श्रीमद्भगवद्गीता
रूप-कविता

संकल्पना व लेखन
- हेमंत लोढ़ा

सहयोग
- अविनाश बागड़े

सीए हेमंत लोढ़ा

श्री हेमंत लोढ़ा जी का जन्म १२ जून १९५६ को जोधपुर के जैन मध्यम परिवार में हुआ। मुम्बई से १९८० में आपने सीए किया। देश विदेश के भ्रमण के पश्चात् आपने २००२ में नागपुर में स्थायी रुप से रहने का निर्णय लिया। १९९४ में श्री जोन विजयरंगम जी की प्रेरणा से पढ़ने व जानने की आपकी रुचि और बलवती हुई। उसके बाद पुस्तकें पढ़ना आपके जीवन का अभिन्न अंग बन गया।

श्री हेमंत लोढ़ा जी की अब तक तीन पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं। Words of Wisdom (WoW), A to Z Entrepreneurship, Nectar of Wisdoml(NOW) श्रीमद्भगवद्गीता : रूप-कविता आपकी चौथी पुस्तक है। इसमें आपने गीता के ७०० श्लोकों का हिंदी के सरल दोहों में रूपांतर करने का प्रयास किया है।

श्री हेमंत लोढ़ा जी समाजसेवा में भी अत्यंत रुचि रखते हैं। आप हेल्पलिंक चेरीटेबल ट्रस्ट के संस्थापक व प्रबंधक हैं। यह संस्था निर्धन बच्चों को पढ़ाने व एचआईवी पॉजीटिव अनाथ बच्चों के पुर्नस्थापन में सहयोग करती है।

श्री हेमंत लोढ़ा जी अभी एसएमएस एनवोकेयर लिमिटेड में मुख्य प्रबंधक के रुप में कार्यरत हैं। यह संस्था पर्यावरण प्रबंधन के क्षेत्र में कार्य करती है।

श्री हेमंत लोढ़ा जी को छोटे लेख (blogs) लिखने में रुचि है व अब तक आपके २५० से अधिक लेख online प्रकाशित हो चुके हैं जिन्हें www.hemant lodha.com पर पढ़ा जा सकता है। इनकी सभी पुस्तकें online amazon व google play पर उपलब्ध हैं।

■ ■ ■

सरलमना, सहृदय, सेवा व सहयोग के मार्ग पर सतत् सक्रिय सृजन हस्ताक्षर श्री हेमंत लोढ़ा जी से अपने जुड़ाव को मैं अपना सौभाग्य समझता हूँ।

हिंदी साहित्य की धरोहर है कविता लेखन की विधा दोहा जिसने मुझे लेखन के लिये सदैव ही आकृष्ट किया है ।

यह संयोग है कि इस विधा की ओर हेमंत जी का भी रुझान हुआ और उन्होंने दोहा सृजन की तरफ कदम बढ़ाये। शुरुवाती दौर में दोहे का मुझे जितना ज्ञान था वह मैने हेमंत जी के साथ साझा किया। कालांतर में श्रीमद्भगवद्गीता के भावों को अपनों तक सरलतम् पथ से पहुँचाने का विचार उनके मन मे आया और उसी विचार पर करीब एक वर्ष की सतत मेहनत ने इस पुस्तक के रूप में जन्म लिया। मेरे अल्प से सहयोग को हेमंत जी ने मुझे अपना सहलेखक बनाकर सम्मानित किया जो आज के समय में बिरले ही कर पाते हैं। साधुवाद ।

यह पुस्तक पंचशील व सृजन बिंब प्रकाशन के माध्यम से आप तक पहुँच रही है।

श्रीमती रीमा दीवान चड्ढ़ा जी (सृजन बिंब प्रकाशन) का विशेष आभार।

अविनाश बागड़े
बी.ई. सिविल
मो. : ९३७३२७१४००
डायरेक्टर – अविशा सागर कन्स्ट्रक्शन कं.प्रा.लि.
संचालक – सृजन बिंब प्रकाशन
८४, अविशा जैतवन सोसायटी
शास्त्री ले–आऊट, खामला नागपुर–२५

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्।।

हो अधर्म का जब प्रचार, होय धर्म का नास
धरता हूँ मैं रूप स्वयं, करूँ जगत में वास

ISBN 978-81-923730-8-9

Published & Distributed by
PANCHSHIL PRAKASHAN
Lodha House, 9 Shanti Vihar,
Hennessy Road,
Civillines, Nagpur 440001
Email: lodhah@gmail.com
www.hemantlodha.com/geetadohe/

सृजन बिंब प्रकाशन

...समर्पण!

स्वर्गीय चंचलमल लोढ़ा

व

सिरे कंवर लोढ़ा

की

पुण्य स्मृति को सादर...!

ॐ

श्रीमद्भगवद्गीता
रूप-कविता

(सरल काव्य रूपांतर)

सीए हेमंत लोढ़ा

(संकल्पना व लेखन)

अविनाश बागड़े

(सहयोग)

पंचशील प्रकाशन, नागपुर

लोढ़ा हाऊस, 9, शांति विहार, हेनस्सी रोड,

सिविल लाइन, नागपुर- 01

सहप्रकाशन

सृजन बिंब प्रकाशन, नागपुर

लेखक

सीए हेमंत सी. लोढ़ा

सहलेखक

अविनाश बागड़े

प्रकाशन

पंचशील प्रकाशन

लोढ़ा हाऊस, 9, शांति विहार,
हेनस्सी रोड, सिविल लाइन,
नागपुर- 01
ई-मेल :
lodhah@gmail.com

वेबसाइट :
www.hemantlodha.com/geetadohe/

सहप्रकाशन

सृजन बिंब प्रकाशन

301, सनशाइन - 2, के.टी. नगर,
काटोल रोड़, नागपुर - 440013
मोबा. : 8208529489 (रीमा)
9373271400 (अविनाश)
ई-मेल :
srijanbimb.2017@gmail.com

मुखपृष्ठ

सी.डी. शिवणकर

मुद्रक : **रवि ऑफसेट, नागपुर**

ISBN
978-81-923730-8-9

प्रथम संस्करण : 2017

मूल्य : ₹ 200/-

© सर्वाधिकार प्रकाशकाधीन

Roop - Kavita (Shrimad Bhagwad Geeta's translation into simple hindi poetry)

मंतव्य

ॐ गीता पढ़ने व समझने का कई बार प्रयास किया लेकिन हर बार 1-2 पेज से अधिक पढ़ न सका। मैंने 10 वीं कक्षा तक संस्कृत पढ़ी है लेकिन न तो संस्कृत का गूढ़ ज्ञान है और न ही दोहा लिखने की समझ। पिछले कुछ वर्षों से मैं श्री अविनाश बागड़े जी के संपर्क में आया और उनसे दोहा लिखने की कला व ज्ञान सीखा। अविनाश जी मेरे दोहा गुरु बन गये। 2004 में मैं पंडित आदित्य तिवारी जी के संपर्क में आया। उनको ज्योतिष, वेद व उपनिषद का अनुपम ज्ञान है। उनको मैंने अपना आध्यात्मिक गुरु बना लिया। उनसे ही मुझे गीता पढ़ने व समझने की प्रेरणा मिली।

तीन साल पहले जब मैंने अविनाश जी से दोहा लिखने की कला सीखी तो अचानक विचार उठा कि क्यों न गीता का सरल हिंदी दोहों में अनुवाद किया जाए। गूगल व लोगों से जानने का प्रयास किया कि क्या कभी पहले ऐसा कोई लेखन हुआ है उसी समय यह लगा कि यह एक अनुपम कृति हो सकती है। मैंने अपना विचार मेरे दोनों गुरुओं को बताया। उन्होंने मुझे प्रोत्साहन दिया और सहयोग करने का वचन भी।

मैंने गीता के कई व्याख्याकारों की पुस्तकें एकत्रित कीं, हर श्लोक का वर्णन पढ़ा व दोहे की रचना की। मेरा हर दोहा अविनाश जी ने पढ़ा व उचित संशोधन किया। मैं अविनाश जी व आदित्य जी का अभिनंदन करता हूँ और यह स्वीकार करता हूँ कि उनके बिना यह कार्य संभव नहीं था। साथ ही मैं विदुषी श्रीमती सुधा राठौर जी का भी आभार मानता हूँ जिन्होंने इस पुस्तक को सँवारने में अपना योगदान दिया। मैं यह भी स्वीकार करता हूँ कि गीता को मैं अब भी पूरी तरह से समझ नहीं पाया हूँ। इसे हर बार पढ़ने से कुछ नया ज्ञान मिलता है व अपनाने का नया अनुभव भी।

मैं हर जीव व अजीव का अभिनंदन करता हूँ जिनसे मुझे जाने अनजाने में यह कार्य पूर्ण करने में सहयोग मिला।

॥ ॐ ॥

हेमंत चंचलमल लोढ़ा

नागपुर
दिनांक : 12 जून 2017

अध्याय क्रम...

1. अर्जुनविषादयोग ॐ 9
2. सांख्ययोग ॐ 19
3. कर्मयोग ॐ 34
4. ज्ञानकर्मसंन्यासयोग ॐ 43
5. कर्मसंन्यासयोग ॐ 52
6. आत्मसंयमयोग ॐ 58
7. ज्ञानविज्ञानयोग ॐ 68
8. अक्षरब्रह्मयोग ॐ 75
9. राजविद्याराजगुह्ययोग ॐ 81
10. विभूतियोग ॐ 88
11. विश्वरूपदर्शनयोग ॐ 97
12. भक्तियोग ॐ 109
13. क्षेत्र-क्षेत्रज्ञविभागयोग ॐ 114
14. गुणत्रयविभागयोग ॐ 122
15. पुरुषोत्तमयोग ॐ 128
16. दैवासुरसंपद्विभागयोग ॐ 133
17. श्रद्धात्रयविभागयोग ॐ 138
18. मोक्षसंन्यासयोग ॐ 144

श्रीमद्भगवद्गीता

रूप: कविता

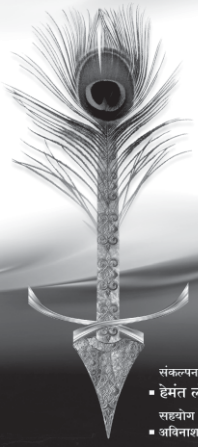

संकल्पना व लेखन
▪ हेमंत लोढ़ा
सहयोग
▪ अविनाश बागड़े

१. प्रथमोऽध्यायः अर्जुनविषादयोग ॐ

धृतराष्ट्र उवाच

धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे समवेता युयुत्सवः ।
मामकाः पाण्डवाश्चैव किमकुर्वत संजय ॥
धर्मक्षेत्र कुरुक्षेत्र का, बोलो संजय हाल ।
कौन कैसे और कहाँ, पांडव - मेरे लाल ॥१-१॥

संजय उवाच

दृष्ट्वा तु पाण्डवानीकं व्यूढं दुर्योधनस्तदा ।
आचार्यमुपसंगम्य राजा वचनमब्रवीत् ॥
पांडव रचना देख के, गए दुर्योधन, द्रोण ।
कह रहे आचार्य से, नयन घुमा हर कोण ॥१-२॥

दुर्योधन उवाच

पश्यैतां पाण्डुपुत्राणामाचार्य महतीं चमूम् ।
व्यूढां द्रुपदपुत्रेण तव शिष्येण धीमता ॥
पांडुपुत्र की हे गुरुजी, सेना खड़ी विशाल ।
द्रुपद पुत्र ने व्यूह रचा, बुद्धिभरी है चाल ॥१-३॥

अत्र शूरा महेष्वासा भीमार्जुनसमा युधि ।
युयुधानो विराटश्च द्रुपदश्च महारथः ॥
भीम अर्जुन धनुर्धरी, युद्धनिपुण महावीर ।
योयोधना विराट संग, द्रुपद सरीखे वीर ॥१-४॥

धृष्टकेतुश्चेकितानः काशिराजश्च वीर्यवान् ।
पुरुजित्कुन्तिभोजश्च शैब्यश्च नरपुङ्गवः ॥

शैब्य कुन्तिभोज अरू, पुरुजित काशीराज ।
धृष्टकेतु भी हैं अड़े, चेकितान संग आज ॥१-५॥

युधामन्युश्च विक्रान्त उत्तमौजाश्च वीर्यवान् ।
सौभद्रो द्रौपदेयाश्च सर्व एव महारथाः ॥

युधामन्यु पराक्रमी, उत्तमौजा बलवान ।
सुभद्रा व द्रौपदी, पाँचों पुत्र महान ॥१-६॥

अस्माकं तु विशिष्टा ये तान्निबोध द्विजोत्तम ।
नायका मम सैन्यस्य संज्ञार्थं तान्ब्रवीमि ते ॥

अपने वीर विशेष हैं, शूरवीर गुरु जान ।
नायक सभी पराक्रमी, सूचित करता ज्ञान ॥१-७॥

भवान्भीष्मश्च कर्णश्च कृपश्च समितिंजयः ।
अश्वत्थामा विकर्णश्च सौमदत्तिस्तथैव च ॥

कृपा, भीष्म व कर्ण हैं, कभी न हारे आप ।
विकर्ण अश्वत्थामा भी, भूरिश्रवा का ताप ॥१-८॥

अन्ये च बहवः शूरा मदर्थे त्यक्तजीविताः ।
नानाशस्त्रप्रहरणाः सर्वे युद्धविशारदाः ॥

वीर अनेकानेक हैं, प्राण करें बलिदान ।
शस्त्रों से परिपूर्ण हैं, निपुण सभी हैं जान ॥१-९॥

अपर्याप्तं तदस्माकं बलं भीष्माभिरक्षितम् ।
पर्याप्तं त्विदमेतेषां बलं भीमाभिरक्षितम् ॥
भीष्म रक्षित हम सभी, कौरव सैन्य अपार ।
सीमित सेना पांडु की, रक्षित भीम तैयार ॥१-१०॥

अयनेषु च सर्वेषु यथाभागमवस्थिताः ।
भीष्ममेवाभिरक्षन्तु भवन्तः सर्व एव हि ॥
डटे रहे अपनी जगह सुन लो गहरी बात ।
हम सब की हर हाल में, रक्षा करना तात ॥१-११॥

तस्य संजनयन्हर्षं कुरुवृद्धः पितामहः ।
सिंहनादं विनद्योच्चैः शङ्खं दध्मौ प्रतापवान् ॥
हर्षित होकर भीष्म ने, किया शंख सिंह नाद ।
पुलकित दुर्योधन हुए, पूरी हुई मुराद ॥१-१२॥

ततः शङ्खाश्च भेर्यश्च पणवानकगोमुखाः ।
सहसैवाभ्यहन्यन्त स शब्दस्तुमुलोऽभवत् ॥
चँहु ओर बजने लगे, शंख नगाड़े ढोल ।
नरसिंग और मृदंग भी, कोलाहल के बोल ॥१-१३॥

ततः श्वेतैर्हयैर्युक्ते महति स्यन्दने स्थितौ ।
माधवः पाण्डवश्चौव दिव्यौ शङ्खौ प्रदध्मतुः ॥
श्वेत अश्व विशाल रथ, माधव जी के साथ ।
दिव्य शंख बजते उधर, अर्जुन संग है नाथ ॥१-१४॥

पाञ्चजन्यं हृषीकेशो देवदत्तं धनञ्जयः ।
पौण्ड्रं दध्मौ महाशङ्खं भीमकर्मा वृकोदरः ॥

पाञ्चजन्य ऋषिकेष ने, पार्थ देवदत्त घोष ।
भीषण पौण्ड्र शंख से, भीम काय का जोश ॥१-१५॥

अनन्तविजयं राजा कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः ।
नकुलः सहदेवश्च सुघोषमणिपुष्पकौ ॥

लेकर शंख अनंत विजय, राज-युधिष्ठिर आय ।
मणिपुष्पक सहदेव लिये, नकुल सुघोष बजाय ॥१-१६॥

काश्यश्च परमेष्वासः शिखण्डी च महारथः ।
धृष्टद्युम्नो विराटश्च सात्यकिश्चापराजितः ॥

बाजे शंख विराट के, धनुधर काशीराज ।
धृष्टद्युम्न शिखण्डी सकल, संग सात्यकि राज ॥१-१७॥

द्रुपदो द्रौपदेयाश्च सर्वशः पृथिवीपते ।
सौभद्रश्च महाबाहुः शङ्खान्दध्मुः पृथक्पृथक् ॥

द्रौपदी सुत, द्रुपद संग, अभिमन्यु बलवान ।
धरा धर्म की गूँजती, शंख फूँकते जान ॥१-१८॥

स घोषो धार्तराष्ट्राणां हृदयानि व्यदारयत् ।
नभश्च पृथिवीं चैव तुमुलो भ्यनुनादयन् ॥

शंखनाद से काँप उठे, धरती और आकाश ।
कौरव दिल भी थम गया, गुँजित किया विनाश ॥१-१९॥

अथ व्यवस्थितान्दृष्टा धार्तराष्ट्रान्कपिध्वजः ।
प्रवृत्ते शस्त्रसंपाते धनुरुद्यम्य पाण्डवः
हृषीकेशं तदा वाक्यमिदमाह महीपते ।
हनुमत ध्वज रथ जो चला, बैठे अर्जुन वीर ।
देख सैन्य बल शत्रु का, साधे अपने तीर ॥१-२०॥

अर्जुन उवाच

हृषीकेशं तदा वाक्यमिदमाह महीपते ।
सेनयोरुभयोर्मध्ये रथं स्थापय मेऽच्युत ॥
धनुष उठा कर पार्थ ने, ली प्रत्यंचा खींच ।
केशव मुझको ले चलो, सेनाओं के बीच ॥१-२१॥

यावदेतान्निरिक्षेऽहं योद्धुकामानवस्थितान् ।
कैर्मया सह योद्धव्यमस्मिन् रणसमुद्यमे ॥
देख जहाँ से मैं सकूँ, खड़े युद्धरत वीर ।
लड़ना है जिनसे मुझे, और चलाना तीर ॥१-२२॥

योत्स्यमानानवेक्षेऽहं य एतेऽत्र समागताः ।
धार्तराष्ट्रस्य दुर्बुद्धेर्युद्धे प्रियचिकीर्षवः ॥
अर्जुन चाहे देखना, सभी विपक्षी वीर ।
दुर्बुद्धि दुर्योधन की, जिनके हाथों तीर ॥१-२३॥

संजय उवाच

एवमुक्तो हृषीकेशो गुडाकेशेन भारत ।
सेनयोरुभयोर्मध्ये स्थापयित्वा रथोत्तमम् ॥
अर्जुन के अनुरोध पे, केशव रथ को खींच ।
उत्तम रथ को ले चले, दो सेना के बीच ॥१-२४॥

भीष्मद्रोणप्रमुखतः सर्वेषां च महीक्षिताम् ।
उवाच पार्थ पश्यैतान्समवेतान्कुरूनिति ॥
भीष्म, गुरु के सामने, पहुँचे अर्जुन- नाथ ।
बोले केशव अर्जुन से, देखो कौरव साथ ॥१-२५॥

तत्रापश्यत्स्थितान्पार्थः पितृनथ पितामहान् ।
आचार्यान्मातुलान्भ्रातृन्पुत्रान्पौत्रान्सखींस्तथा ॥
देखा दादा हैं खड़े, पुत्र-पौत्र का शोर ।
चाचा मामा संग गुरु, भाई मित्र चहुँ ओर ॥१-२६॥

श्वशुरान्सुहृदश्चौव सेनयोरुभयोरपि ।
तान्समीक्ष्य स कौन्तेयः सर्वान्बन्धूनवस्थितान् ॥
शोकातुर से हो गये, देख ससुर परिवार ।
बन्धु देख करुणा भरे, योद्धा कुन्तिकुमार ॥१-२७॥

अर्जुन उवाच

कृपया परयाविष्टो विषीदन्निदमब्रवीत् ।
दृष्ट्वेमं स्वजनं कृष्ण युयुत्सुं समुपस्थितम् ॥
शोकातुर अर्जुन हुआ, प्रकट हुए यह भाव ।
कृष्ण सखा सब हैं स्वजन, लड़ने आया गाँव ॥१-२८॥

सीदन्ति मम गात्राणि मुखं च परिशुष्यति ।
वेपथुश्च शरीरे मे रोमहर्षश्च जायते ॥
अंग-अंग कम्पन हुआ, मुख भी सूखा जाय ।
तन है मेरा काँप रहा, रोमांचित ये काय ॥१-२९॥

गाण्डीवं स्रंसते हस्तात्त्वक्चौव परिदह्यते ।
न च शक्नोम्यवस्थातुं भ्रमतीव च मे मनः ॥
जलन त्वचा में हो रही, गांडीव सम्भल न पाय ।
भ्रमित सकल ये मन हुआ, खड़ा रहा ना जाय ॥१-३०॥

निमित्तानि च पश्यामि विपरीतानि केशव ।
न च श्रेयोऽनुपश्यामि हत्वा स्वजनमाहवे ॥
विपरित पाकर लक्षणा, केशव को समझाय ।
स्वजन सभी ये मार के, मोक्ष न पाया जाय ॥१-३१॥

न काङ्क्षे विजयं कृष्ण न च राज्यं सुखानि च ।
किं नो राज्येन गोविन्द किं भोगैर्जीवितेन वा ॥
चाह विजय की मम नहीं, नहीं चाहिए राज ।
ऐसे सुख का लाभ नहीं, चाह न गोविंद राज ॥१-३२॥

येषामर्थे काङ्क्षितं नो राज्यं भोगाः सुखानि च ।
त इमेऽवस्थिता युद्धे प्राणांस्त्यक्त्वा धनानि च ॥
अभिलाषा जिनके लिये, राज सुख और भोग ।
जीवन आशा छोड़ के, रण में हैं वो लोग ॥१-३३॥

आचार्याः पितरः पुत्रास्तथैव च पितामहाः ।
मातुलाः श्वशुराः पौत्राः श्यालाः संबन्धिनस्तथा ॥
गुरु पितामह सामने, पुत्र पौत्र चहुँ ओर ।
मामा और ससुर खड़े, अपने ही हर ओर ॥१-३४॥

एतान्न हन्तुमिच्छामि घ्नतोऽपि मधुसूदन ।
अपि त्रैलोक्यराज्यस्य हेतोः किं नु महीकृते ॥

मार सकूँ ना स्वजन को, मधुसूदन समझाय ।
ठुकराकर यह वसुंधरा, तीन लोक ना भाय ॥१-३५॥

निहत्य धार्तराष्ट्रान्नः का प्रीतिः स्याज्जनार्दन ।
पापमेवाश्रयेदस्मान्हत्वैतानाततायिनः ॥

नहीं जनार्दन सुख यहाँ, कौरव मरे कुमार ।
लगे पाप ही सब मुझे, पापी जन को मार ॥१-३६॥

तस्मान्नार्हा वयं हन्तुं धार्तराष्ट्रान्स्वबान्धवान् ।
स्वजनं हि कथं हत्वा सुखिनः स्याम माधव ॥

उचित नही होगा कभी, धृतराष्ट्र कुल मार ।
कौन सुखी माधव बता, कर कुटुम्ब संहार ॥१-३७॥

यद्यप्येते न पश्यन्ति लोभोपहतचेतसः ।
कुलक्षयकृतं दोषं मित्रद्रोहे च पातकम् ॥

लालच में लिपटे सभी, नही हो रहा बोध ।
दोष लगे कुल नाश का, पाप है मित्र विरोध ॥१-३८॥

कथं न ज्ञेयमस्माभिः पापादस्मान्निवर्तितुम् ।
कुलक्षयकृतं दोषं प्रपश्यद्भिर्जनार्दन ॥

समझूँ क्यूँ ना मै इसे, पाप भरा यह काम ।
कुलनाशक यह दोष है, तुम बतलाओ श्याम ॥१-३९॥

कुलक्षये प्रणश्यन्ति कुलधर्माः सनातनाः ।
धर्मे नष्टे कुलं कृत्स्नमधर्मोऽभिभवत्युत ॥
नाश अगर कुल का हुआ, होगा धर्म विनाश ।
धरम अगर जो नष्ट हुआ, कुल का होगा नाश ॥१-४०॥

अधर्माभिभवात्कृष्ण प्रदुष्यन्ति कुलस्त्रियः ।
स्त्रीषु दुष्टासु वार्ष्णेय जायते वर्णसंकरः ॥
हे कृष्ण जब पाप बढ़े, स्त्री दूषित हो जाय ।
नारी मन कलुषित भये, बिगड़ पीढ़ियाँ जाय ॥१-४१॥

संकरो नरकायैव कुलघ्नानां कुलस्य च ।
पतन्ति पितरो ह्येषां लुप्तपिण्डोदकक्रियाः ॥
पूर्ण वंश को नर्क मिले, कुल विनाश का पाप ।
पुरखे भी बचते नहीं, पिंड दान संताप ॥१-४२॥

दोषैरेतैः कुलघ्नानां वर्णसंकरकारकैः ।
उत्साद्यन्ते जातिधर्माः कुलधर्माश्च शाश्वताः ॥
दोष यह कुल नाश करे, वर्ण संकरित होय ।
जाति और कुल धर्म भी, शाश्वत कभी न कोय ॥१-४३॥

उत्सन्नकुलधर्माणां मनुष्याणां जनार्दन ।
नरकेऽनियतं वासो भवतीत्यनुशुश्रुम ॥
जिसका है कुलधर्म नहीं, जगतपति संसार ।
सदा रहे वो नर्क में, ऐसा करे प्रचार ॥१-४४॥

अहो बत महत्पापं कर्तुं व्यवसिता वयम् ।
यद्राज्यसुखलोभेन हन्तुं स्वजनमुद्यताः ॥
पाप को तैयार खड़े, कैसा लागा रोग ।
क्या सत्ता के लोभ में, मारे अपने लोग ॥१-४५॥

यदि मामप्रतीकारमशस्त्रं शस्त्रपाणयः ।
धार्तराष्ट्रा रणे हन्युस्तन्मे क्षेमतरं भवेत् ॥
शस्त्रहीन सा मैं रहूँ, कौरव मारे बाण ।
मैं सोचूँ होगा भला, होगा ही कल्याण ॥१-४६॥

संजय उवाच

एवमुक्त्वार्जुनः संख्ये रथोपस्थ उपाविशत् ।
विसृज्य सशरं चापं शोकसंविग्नमानसः ॥
अर्जुन रथ में बैठ गए, ऐसा कह सर थाम ।
धनुष बाण सब छोड़ के, शोकमग्न मन श्याम ॥१-४७॥

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे ।
श्रीकृष्णार्जुनसंवादेऽर्जुनविषादयोगो नाम प्रथमोऽध्यायः ॥

॥ ॐ ॐ ॐ ॥

२. द्वितीयोऽध्यायः सांख्ययोग ॐ

संजय उवाच

तं तथा कृपयाविष्टमश्रुपूर्णाकुलेक्षणम् ।
विषीदन्तमिदं वाक्यमुवाच मधुसूदनः ॥
करुणा से परिपूर्ण है, शोकाकुल है पार्थ ।
मधुसूदन समझा रहे, कर सतत् शास्त्रार्थ ॥२-१॥

श्री भगवानुवाच

कुतस्त्वा कश्मलमिदं विषमे समुपस्थितम् ।
अनार्यजुष्टमस्वर्ग्यमकीर्तिंकरमर्जुन ॥
क्यों आया अज्ञान तुम्हें, असमय सारी बात ।
लोक ना परलोक बने, पार्थ अपयशी रात ॥२-२॥

क्लैब्यं मा स्म गमः पार्थ नैतत्त्वय्युपपद्यते ।
क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यत्वोत्तिष्ठ परन्तप ॥
पार्थ नपुंसक मत बनो, उचित नहीं पहचान ।
दुर्बलता बिल्कुल नहीं, गांडीव तेरी शान ॥२-३॥

अर्जुन उवाच

कथं भीष्ममहं संख्ये द्रोणं च मधुसूदन ।
इषुभिः प्रति योत्स्यामि पूजार्हावरिसूदन ॥
पूजनीय सब हैं खड़े, भीष्मपितामह द्रोण ।
हे मधुसूदन यह बता, बाण चले किस कोण ॥२-४॥

गुरूनहत्वा हि महानुभावान् श्रेयो भोक्तुं भैक्ष्यमपीह लोके ।
हत्वार्थकामांस्तु गुरूनिहैव भुञ्जीय भोगान् रुधिरप्रदिग्धान् ॥

मांगूँ खाऊँ ठीक है, गुरु मारना पाप ।
भोग ऐसे ठीक नहीं, गुरु हत्या का शाप ॥२-५॥

न चैतद्विद्मः कतरन्नो गरीयो यद्वा जयेम यदि वा नो जयेयुः ।
यानेव हत्वा न जिजीविषाम- स्तेऽवस्थिताः प्रमुखे धार्तराष्ट्राः ॥

क्या अच्छा यह पता नहीं, हम जीतें या तात ।
प्राण हरण भ्राता करूँ, जीवन जैसे रात ॥२-६॥

कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः पृच्छामि त्वां धर्मसम्मूढचेताः ।
यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम् ॥

दुर्बलता के बंधन में, भूला मेरा काम ।
शरणागत मैं आपका, पथ दिखलाओ श्याम ॥२-७॥

न हि प्रपश्यामि ममापनुद्याद् ।
यच्छोकमुच्छोषणमिन्द्रियाणाम् ।
अवाप्य भूमावसपत्नमृद्धं राज्यं सुराणामपि चाधिपत्यम् ॥

मिट पायेगा ना कभी, मेरे मन का शोक ।
चाहे यह धरती मिले, या समस्त परलोक ॥२-८॥

संजय उवाच

एवमुक्त्वा हृषीकेशं गुडाकेशः परन्तप ।
न योत्स्य इति गोविन्दमुक्त्वा तूष्णीं बभूव ह ॥

कृष्ण से अर्जुन कहे, ठीक नही संग्राम ।
बैठ गये रथ में पुनः, अपनी चुप्पी थाम ॥२-९॥

तमुवाच हृषीकेशः प्रहसन्निव भारत ।
सेनयोरुभयोर्मध्ये विषीदन्तमिदं वचः ॥
हे राजन! गोविंद कहे, मोहित धर मुस्कान ।
शोकाकुल अर्जुन सुने, मध्य सैन्य भगवान ॥२-१०॥

श्रीभगवानुवाच
अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे ।
गतासूनगतासूंश्च नानुशोचन्ति पण्डिताः ॥
बातें करता ज्ञान की, करे व्यर्थ का शोक ।
शोक न ज्ञानीजन करें, जिये मरे यह लोक ॥२-११॥

न त्वेवाहं जातु नासं न त्वं नेमे जनाधिपाः ।
न चैव न भविष्यामः सर्वे वयमतः परम् ॥
काल नहीं ऐसा कभी, हम ना थे इस लोक ।
काल नहीं होगा कभी, नहीं लोक परलोक ॥२-१२॥

देहिनोऽस्मिन्यथा देहे कौमारं यौवनं जरा ।
तथा देहान्तरप्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति ॥
भूत जवानी बालपन, नवजीवन सब पाय ।
धीर वीर सोचे नहीं, क्यों तू शोक मनाय ॥२-१३॥

मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय शीतोष्णसुखदुःखदाः ।
आगमापायिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत ॥
सर्दी गर्मी सुख व दुःख, सहने की है बात ।
संग इन्द्रियों के विषय, है अनित्य हालात ॥२-१४॥

यं हि न व्यथयन्त्येते पुरुषं पुरुषर्षभ ।
समदुःखसुखं धीरं सोऽमृतत्वाय कल्पते ॥
ज्ञानी विचलित हो नहीं, सुख दुख सभी समान ।
चाहत जो वश में करे, मिले मोक्ष सम्मान ॥२-१५॥

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः ।
उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः ॥
आयु नहीं असत्य की, सत्य सनातन काल ।
ज्ञानी जन तो समझ गए, जीवन माया जाल ॥२-१६॥

अविनाशि तु तद्विद्धि येन सर्वमिदं ततम् ।
विनाशमव्ययस्यास्य न कश्चित्कर्तुमर्हति ॥
नाश न कोई कर सके, व्यापक जो चहुँ ओर ।
अविनाशी यह आत्मा, चले न जिस पर ज़ोर ॥२-१७॥

अन्तवन्त इमे देहा नित्यस्योक्ताः शरीरिणः ।
अनाशिनोऽप्रमेयस्य तस्माद्युध्यस्व भारत ॥
अजर अमर जीवात्मा, नाशवान यह देह ।
अर्जुन जन्मे मरे नहीं, रखो युद्ध से नेह ॥२-१८॥

य एनं वेत्ति हन्तारं यश्चैनं मन्यते हतम् ।
उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते ॥
मरा समझना-मारना, दोऊ आधे ज्ञान ।
मरती है ना मारती, अमर आत्मा जान ॥२-१९॥

न जायते म्रियते वा कदाचि-न्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः ।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥
नित्य सनातन आत्मा, नहीं देह के साथ ।
मरती ना ये जन्मती, कभी समय के हाथ ॥२-२०॥

वेदाविनाशिनं नित्यं य एनमजमव्ययम् ।
कथं स पुरुषः पार्थ कं घातयति हन्ति कम् ॥
जाने जो यह आत्मा, नाशरहित और नित्य ।
मरवाने या मारने, नहीं करेगा कृत्य ॥२-२१॥

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय नवानि गृह्णति नरोऽपराणि ।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि संयाति नवानि देही ॥
बदल पुराने वस्त्र को, लेते नया चढ़ाय ।
वैसे ही जीवात्मा, नई देह पा जाय ॥२-२२॥

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः ।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः ॥
मार सके ना शस्त्र जिसे, जला सके ना आग ।
जल गीला ना कर सके, वायु करे ना भाग ॥२-२३॥

अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च ।
नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः ॥
गले जले ना आत्मा, और टूट ना पाय ।
नित्य सनातन है सभी, अचल व स्थिर कहलाय ॥२-२४॥

अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽयमविकार्योऽयमुच्यते ।
तस्मादेवं विदित्वैनं नानुशोचितुमर्हसि ॥

व्यक्त नहीं होती कभी, होता नहीं विकार ।
ऐसी है जब आत्मा, शोक करे बेकार ॥२-२५॥

अथ चैनं नित्यजातं नित्यं वा मन्यसे मृतम् ।
तथापि त्वं महाबाली नैवं शोचितुमर्हसि ॥

किन्तु कहे तू आत्मा, फिरे लोक परलोक ।
तो भी महाबली सुनो, उचित नही यह शोक ॥२-२६॥

जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च ।
तस्मादपरिहार्येऽर्थे न त्वं शोचितुमर्हसि ॥

जीना मरना तय सदा, सतत लोक परलोक ।
बच पाना संभव नहीं, अनुचित तेरा शोक ॥२-२७॥

अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत ।
अव्यक्तनिधनान्येव तत्र का परिदेवना ॥

हैं जनम से पूर्व हम, भारत मृत्यु बाद ।
इन दोनों के बीच में, फिर क्यों शोक विवाद ॥२-२८॥

आश्चर्यवत्पश्यति कश्चिदेन- माश्चर्यवद्वदति तथैव चान्यः ।
आश्चर्यवच्चैनमन्यः शृणोति श्रुत्वाप्येनं वेद न चैव कश्चित् ॥

कोई अचरज से लखे, करे आत्म की बात ।
या फिर अचरज से सुने, समझ न पाये जात ॥२-२९॥

देही नित्यमवध्योऽयं देहे सर्वस्य भारत ।
तस्मात्सर्वाणि भूतानि न त्वं शोचितुमर्हसि ॥
पार्थ अमर यह आत्मा, रहती सबके देह ।
तुझे नहीं अधिकार ये, करे शोक संदेह ॥२-३०॥

स्वधर्ममपि चावेक्ष्य न विकम्पितुमर्हसि ।
धर्माद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत्क्षत्रियस्य न विद्यते ॥
समुचित यह संकोच नहीं, भय न धर्म अनुसार ।
धर्मयुद्ध में जब लड़े, हो क्षत्रिय उद्धार ॥२-३१॥

यदृच्छया चोपपन्नं स्वर्गद्वारमपावृतम् ।
सुखिनः क्षत्रियाः पार्थ लभन्ते युद्धमीदृशम् ॥
हे पार्थ! अवसर यही, खुला स्वर्ग का द्वार ।
भाग्यवान क्षत्रिय वही, मिले युद्ध का भार ॥२-३२॥

अथ चेत्त्वमिमं धर्म्य संग्रामं न करिष्यसि ।
ततः स्वधर्मं कीर्तिं च हित्वा पापमवाप्स्यसि ॥
छोड़ेगा जो युद्ध तू, खुले पाप के द्वार ।
छोड़ स्वधर्म न यश मिले, जीवन का यह सार ॥२-३३॥

अकीर्तिं चापि भूतानि कथयिष्यन्ति तेऽव्ययाम् ।
सम्भावितस्य चाकीर्तिर्मरणादतिरिच्यते ॥
हो निन्दा इतिहास में, अपयश बारंबार ।
मृत्यु से भी बदतर है, बदनामी का भार ॥२-३४॥

भयाद्रणादुपरतं मंस्यन्ते त्वां महारथाः ।
येषां च त्वं बहुमतो भूत्वा यास्यसि लाघवम् ॥
छोड़ युद्ध जो भागता, लोग कहें डरपोक ।
कायर कहें महारथी, बिगड़ें दोनों लोक ॥२-३५॥

अवाच्यवादांश्च बहून्वदिष्यन्ति तवाहिताः ।
निन्दन्तस्तव सामर्थ्यं ततो दुःखतरं नु किम् ॥
क्षमता पर शंका करें, बोल वचन के तीर ।
व्यंग्य बाण तुझ पर चले, घाव करें गंभीर ॥२-३६॥

हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम् ।
तस्मादुत्तिष्ठ कौन्तेय युद्धाय कृतनिश्चयः ॥
वीरगति से स्वर्ग मिले, विजय मिली तो राज ।
कौन्तेय! तू हो खड़ा, कर रण का आग़ाज़ ॥२-३७॥

सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि ॥
हार-जीत, सुख-दुख रहे, लाभो-हानि समान ।
भाव रहित जो युद्ध लड़े, मिले पुण्य का मान ॥२-३८॥

एषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धिर्योगे त्विमां शृणु ।
बुद्ध्या युक्तो यया पार्थ कर्मबन्धं प्रहास्यसि ॥
पार्थ! जो अब तक सुना, सांख्ययोग का बोध ।
कर्मयोग से काम लो, मिटे मोक्ष अवरोध ॥२-३९॥

नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते ।
स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात् ॥
कर्मयोग के मायने, नहीं हानि या नाश ।
थोड़ा भी जो कर्म करे, मुक्त हो भय विश्वास ॥२-४०॥

व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन ।
बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम् ॥
लक्ष्य कभी भटके नहीं, धर्म न छोड़े साथ ।
नर में नहीं विवेक जिस, नियति छोड़े हाथ ॥२-४१॥

यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविपश्चितः ।
वेदवादरताः पार्थ नान्यदस्तीति वादिनः ॥
लिपटा है जो भोग में, कर्म फलों की आस ।
स्वर्ग गमन के मोह में, वेद वाक् का दास ॥२-४२॥

कामात्मानः स्वर्गपरा जन्मकर्मफलप्रदाम् ।
क्रियाविशेषबहुलां भोगैश्वर्यगतिं प्रति ॥
फँसा काम के जाल में, पुनर्जन्म का फेर ।
अर्जुन ऐसे जातक में, है लालच अति ढेर ॥२-४३॥

भोगैश्वर्यप्रसक्तानां तयापहृतचेतसाम् ।
व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते ॥
यहीं भटकता मन कहीं, लिपटा भोग विलास ।
सम्भव नहीं समाधि हो, होय बुद्धि का नास ॥२-४४॥

त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन ।
निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान् ॥
तीन गुणों का फेर है, वेद विषय का ज्ञान ।
राग द्वेष को छोड़ के, अर्जुन सत् को जान ॥२-४५॥

यावानर्थ उदपाने सर्वतः संप्लुतोदके ।
तावान्सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः ॥
बाढ़ जो आये यहाँ, सरवर का क्या काम ।
परम ब्रह्म का बोध हो, नहीं वेद का नाम ॥२-४६॥

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन ।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि ॥
फल पर तेरा वश नहीं, कर्मों पर अधिकार ।
फल की आशा हो नहीं, ना अकर्म आचार ॥२-४७॥

योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनंजय ।
सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते ॥
नहीं धनंजय लिप्त न हो, मन की समता साध ।
सफल विफल जो भी रहे, कर कर्तव्य अबाध ॥२-४८॥

दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धियोगाद्धनंजय ।
बुद्धौ शरणमन्विच्छ कृपणाः फलहेतवः ॥
बुद्धि योग से धनंजय, बुरे कर्म को त्याग ।
बुद्ध शरण की कामना, कृपण करे अनुराग ॥२-४९॥

बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते ।
तस्माद्योगाय युज्यस्व योगः कर्मसु कौशलम् ॥
कर्म करे समभाव जो, पाप-पुण्य तज जाय ।
कर्म कुशलता से करें, जीव मुक्त हो पाय ॥२-५०

कर्मजं बुद्धियुक्ता हि फलं त्यक्त्वा मनीषिणः ।
जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः पदं गच्छन्त्यनामयम् ॥
भक्तिभाव से कर्म करे, ज्ञानी फल को त्याग ।
जन्म चक्र से मुक्त रहे, मिलता मोक्ष सुभाग ॥२-५१॥

यदा ते मोहकलिलं बुद्धिवर्यतितरिष्यति ।
तदा गन्तासि निर्वेदं श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च ॥
मोह जाल के जंगल से, बुद्धि लगेगी पार ।
यात्राएँ सन्यास की, सुना हुईं बेकार ॥२-५२॥

श्रुतिविप्रतिपन्ना ते यदा स्थास्यति निश्चला ।
समाधावचला बुद्धिस्तदा योगमवाप्स्यसि ॥
सुन अज्ञान से हो परे, हो मन निश्चित स्थान ।
ईश्वर में बुद्धि रहे, मिले योग तू जान ॥२-५३॥

अर्जुन उवाच

स्थितप्रज्ञस्य का भाषा समाधिस्थस्य केशव ।
स्थितधीः किं प्रभाषेत किमासीत व्रजेत किम् ॥
स्थितप्रज्ञ है आदमी, भाषा क्या भगवान ।
जो स्थिर कैसे बोलता, किस विध से पहचान ॥२-५४॥

श्रीभगवानुवाच

प्रजहाति यदा कामान्सर्वान्पार्थ मनोगतान् ।
आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते ॥
कामनाएँ त्याग दे, समता मन कहलाय ।
आत्मज्ञान पहचान ले, स्थिरबुद्धि कहलाय ॥२-५५॥

दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः ।
वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते ॥
दुखी नहीं दुख कर सके, सुख का ना हो भान ।
राग क्रोध भय ना रहे, स्थिर बुद्धि हो जान ॥२-५६॥

यः सर्वत्रानभिस्नेहस्तत्तत्प्राप्य शुभाशुभम् ।
नाभिनन्दति न द्वेष्टि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥
मोह नहीं बाँधे जिसे, है शुभ अशुभ समान ।
नहीं खुशी ना द्वेष हो, स्थिर बुद्धि हो जान ॥२-५७॥

यदा संहरते चायं कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥
कछुआ ज्यों भीतर छुपे, हो विषयों से दूर ।
अंकुश जो मन पे रखे, स्थिर है बुद्धि ज़रूर ॥२-५८॥

विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः ।
रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते ॥
रहे विषय जो दूर जो, पाले प्रत्याहार ।
रस जाने पर त्याग दे, होवे बेड़ा पार ॥२-५९॥

यततो ह्यपि कौन्तेय पुरुषस्य विपश्चितः ।
इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः ॥
सदा प्रभावी इन्द्रियाँ, विचलित रहे विवेक ।
अर्जुन हार न मानना, करना यत्न अनेक ॥२-६०॥

तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत मत्परः ।
वशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥
जो मुझमें तल्लीन हो, मन पर अंकुश होय ।
वश में रख के इंद्रियाँ, स्थिर बुद्धि वह होय ॥२-६१॥

ध्यायतो विषयान्पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते ।
सङ्गात्संजायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते ॥
जो भौतिक चिंतन करे, आसक्ति हिय होय ।
राग जगाती कामना, काम क्रोध को बोय ॥२-६२॥

क्रोधाद्भवति संमोहः संमोहात्स्मृतिविभ्रमः ।
स्मृतिभ्रंशाद्बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति ॥
क्रोध मोह को जन्म दे, चेतन मारा जाय ।
चित्त नाश बुद्धि हरता, पौरुष ही गिर जाय ॥२-६३॥

रागद्वेषविमुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन् ।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति ॥
राग द्वेष से मुक्त हो, हों इंद्रियाँ अधीन ।
आत्मा को वश में रखे, रहे वही स्वाधीन ॥२-६४॥

प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते ।
प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते ॥
कृपा प्रभु की जब मिले, भागें सब दुख दूर ।
मानव स्थिरबुद्धि बने, खुशियाँ रहें न दूर ॥२-६५॥

नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य न चायुक्तस्य भावना ।
न चाभावयतः शान्तिरशान्तस्य कुतः सुखम् ॥
संयत बुद्धि की कमी, शांति कभी ना होय ।
जो शांति की हो कमी, आनंदित क्या होय ॥२-६६॥

इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनु विधीयते ।
तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवाम्भसि ॥
वायु बहाकर ले चले, जल संग बहती नाव ।
वैसे इन्द्रिय ले चले, आसक्ति संग भाव ॥२-६७॥

तस्माद्यस्य महाबाहो निगृहीतानि सर्वशः ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥
हे अर्जुन! उसकी समझ, स्थिर बुद्धि का राज ।
रहे नियंत्रित इंद्रियाँ, विषय बन्द आवाज़ ॥२-६८॥

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी ।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः ॥
सोते हैं सब लोग जब, ज्ञानी करते बात ।
अगर जागते लोग सब, ज्ञानी समझे रात ॥२-६९॥

आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत् ।
तद्वत्कामा यं प्रविशन्ति सर्वे स शान्तिमाप्नोति न कामकामी ॥

विचलित ना सागर हुआ, नदियाँ मिलें हज़ार ।
बनी शांत बुद्धि रहे, इच्छा उठे अपार ॥२-७०॥

विहाय कामान्यः सर्वान् पुमांश्चरति निःस्पृहः ।
निर्ममो निरहंकारः स शान्तिमधिगच्छति ॥

कामनाएँ जो तज दे, तजे अहं और मोह ।
उसको ही शांति मिले, आनंदित आरोह ॥२-७१॥

एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ नैनां प्राप्य विमुह्यति ।
स्थित्वास्यामन्तकालेऽपि ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति ॥

पाये जो यह दिव्य दशा, नहीं मोह का ध्यान ।
परमानंद उसको मिले, मिलें अंत निर्वाण ॥२-७२॥

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे
श्रीकृष्णार्जुन संवादे सांख्ययोगो नाम द्वितीयोऽध्यायः ॥

॥ ॐ ॐ ॐ ॥

३. तृतीयोऽध्यायः कर्मयोग ॐ

अर्जुन उवाच

ज्यायसी चेत्कर्मणस्ते मता बुद्धिर्जनार्दन ।
तत्किं कर्मणि घोरे मां नियोजयसि केशव ॥
कहे जनार्दन आप ही, कर्म से उत्तम ज्ञान ।
क्यूँ मुझसे केशव कहे, लो अपनों की जान ॥३-१॥

व्यामिश्रेणेव वाक्येन बुद्धिं मोहयसीव मे ।
तदेकं वद निश्चित्य येन श्रेयोऽहमाप्नुयाम् ॥
मिश्र वचन तेरे बड़े, बुद्धि मेरी भरमाय ।
अंत भला जो हो मेरा, कहिये कोई उपाय ॥३-२॥

श्रीभगवानुवाच

लोकेऽस्मिन्द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघ ।
ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम् ॥
पहले ही मैंने कहा, सुनो मार्ग दो पार्थ ।
ज्ञान योग पे कुछ चले, कुछ भक्ति भावार्थ ॥३-३॥

न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते ।
न च संन्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति ॥
कर्म त्याग से ना मिले, फल मुक्ति का मार्ग ।
सन्यासी को भी नहीं, मिले सिद्धि-संमार्ग ॥३-४॥

न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत् ।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः ॥
ना सम्भव हर जीव को, कर्म सभी दे छोड़ ।
गुण जगत के करे विवश, नियम सके ना तोड़ ॥३-५॥

कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन् ।
इन्द्रियार्थान्विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते ॥
अंगों को वश में रखे, मन को रख ना पाय ।
जातक हैं झूठे वही, कपटी वें कहलाय ॥३-६॥

यस्त्विन्द्रियाणि मनसा नियम्यारभतेऽर्जुन ।
कर्मेन्द्रियैः कर्मयोगमसक्तः स विशिष्यते ॥
हे अर्जुन! वह श्रेष्ठ है, मन पर जिसकी रोक ।
करे काम हरदम सही, फल का मोह न शोक ॥३-७॥

नियतं कुरु कर्म त्वं कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः ।
शरीरयात्रापि च ते न प्रसिद्ध्येदकर्मणः ॥
पार्थ सदैव अकर्म से, श्रेष्ठ कर्म को मान ।
बिना काम आलस बढ़े , कर्म देह की जान ॥३-८॥

यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः ।
तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसङ्गः समाचर ॥
कर्म न हो बन्धन कभी, कर्म यज्ञ सा होय ।
हे अर्जुन! बस धर्म कर, राग द्वेष को खोय ॥३-९॥

सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः ।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक् ॥
रचा ब्रह्म ने यज्ञ से, आदि काल में जीव ।
कामधेनु वरदान से, प्रजनन करे सजीव ॥३-१०॥

देवान्भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः ।
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ ॥
देव यज्ञ से ख़ुश रहे, करे प्रसन्न उपाय ।
आपस के सहयोग से, सबका सदा सहाय ॥३-११॥

इष्टान्भोगान्हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविताः ।
तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुङ्क्ते स्तेन एव सः ॥
दे बिन माँगे देवता, कर्म हो जब निष्काम ।
भोग बिना भुगतान के, चोरों का है काम ॥३-१२॥

यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः ।
भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात् ॥
पाप मुक्त होते सभी, लेते यज्ञ प्रसाद ।
इन्द्रिय-सुख में जो रहे, चखे पाप का स्वाद ॥३-१३॥

अन्नाद्भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसम्भवः ।
यज्ञाद्भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः ॥
अन्न पे आश्रित सभी, वर्षा जो उपजाय ।
यज्ञ से वर्षा भये, कर्म यज्ञ करवाय ॥३-१४॥

कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माक्षरसमुद्भवम् ।
तस्मात्सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम् ॥
वेद कर्म का मूल है, वेद ब्रह्म का ज्ञान ।
सकल व्याप्त परमात्मा, सब में मिले समान ॥३-१५॥

एवं प्रवर्तितं चक्रं नानुवर्तयतीह यः ।
अघायुरिन्द्रियारामो मोघं पार्थ स जीवति ॥
जो जन सृष्टि चक्र का , करे नहीं सम्मान ।
दास बने वो देह का, व्यर्थ है उसकी जान ॥३-१६॥

यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः ।
आत्मन्येव च सन्तुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते ॥
मानस में आनन्द हैं, भीतर में सन्तोष ।
आत्मा में तृप्ति रहे, नहीं कर्म जयघोष ॥३-१७॥

नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन ।
न चास्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थव्यपाश्रयः ॥
सिद्ध व्यक्तियों के लिये, कर्म प्रयोजनहीन ।
वही कर्म उसका रहे, जिसमें है वह लीन ॥३-१८॥

तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर ।
असक्तो ह्याचरन्कर्म परमाप्नोति पूरुषः ॥
कर्म करो तुम इसलिये, आसक्ति को त्याग ।
परमात्मा से जा मिले, बिना किये वो राग ॥३-१९॥

कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः ।
लोकसंग्रहमेवापि संपश्यन्कर्तुमर्हसि ॥
ज्ञानी पाये मोक्ष को, कर्म किये निष्काम ।
तू जन के कल्याण हित, कर्मठ बन निष्काम ॥३-२०॥

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः ।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते ॥
उत्तम जन जैसा करे, वैसा करते लोग ।
सकल जगत को है लगा, अनुगमन का रोग ॥३-२१॥

न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किंचन ।
नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि ॥
नहीं प्राप्ति के योग्य कुछ, ना लोकों में काम ।
मैं अर्जुन! केशव कहे, फिर भी करता काम ॥३-२२॥

यदि ह्यहं न वर्तेयं जातु कर्मण्यतन्द्रितः ।
मम वतर्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः ॥
अनुसरण में सब मेरे, देख रहे दिन रात ।
हानि जन्य संभावना, समझ न करता बात ॥३-२३

उत्सीदेयुरिमे लोका न कुर्यां कर्म चेदहम् ।
संकरस्य च कर्ता स्यामुपहन्यामिमाः प्रजाः ॥
काम नहीं जो मैं करूँ, तीन लोक का हास ।
कारण इसका मैं बनूँ, जीवन होगा नाश ॥३-२४

सक्ताः कर्मण्यविद्वांसो यथा कुर्वन्ति भारत ।
कुर्याद्विद्वांस्तथासक्तश्चिकीर्षुर्लोकसंग्रहम् ॥

अज्ञानी के कर्म में, आसक्ति का भाव ।
पर पंडित के काम में, जनहित नहीं अभाव ॥३-२५॥

न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्मसङ्गिनाम् ।
जोषयेत्सर्वकर्माणि विद्वान्युक्तः समाचरन् ॥

ज्ञानी कभी न तोड़ते, अनपढ़ का विश्वास ।
रखे धरम पे आस्था, ज्ञानी रहते पास ॥३-२६॥

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः ।
अहंकारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते ॥

करती है सब प्रकृति, देती हमको मान ।
अहंकार का रोग ही, लेता खुद की जान ॥३-२७॥

तत्त्ववित्तु महाबाहो गुणकर्मविभागयोः ।
गुणा गुणेषु वर्तन्त इति मत्वा न सज्जते ॥

रखते योगी ज्ञान का, कर्म - गुणों का ध्यान
आसक्ति होती नहीं, गुण से गुण पहचान ॥३-२८॥

प्रकृतेर्गुणसंमूढाः सज्जन्ते गुणकर्मसु ।
तानकृत्स्नविदो मन्दान्कृत्स्नविन्न विचालयेत् ॥

कुदरत से मोहित बड़े, सत् कर्मो के साथ ।
ज्ञानी विचलित ना रहे, मन्दबुद्धि के हाथ ॥३-२९॥

मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्याध्यात्मचेतसा ।
निराशीर्निर्ममो भूत्वा युध्यस्व विगतज्वरः ॥
सकल कर्म निज दो मुझे, ले लो मेरा ज्ञान ।
नहीं लाभ के लोभवश, रखो युद्ध पर ध्यान ॥३-३०॥

ये मे मतमिदं नित्यमनुतिष्ठन्ति मानवाः ।
श्रद्धावन्तोऽनसूयन्तो मुच्यन्ते तेऽपि कर्मभिः ॥
जो मेरे पथ पर चले, शंका-बिन विश्वास ।
कर्म चक्र से मुक्त हो, रखे मोक्ष की आस ॥३-३१॥

ये त्वेतदभ्यसूयन्तो नानुतिष्ठन्ति मे मतम् ।
सर्वज्ञानविमूढांस्तान्विद्धि नष्टानचेतसः ॥
जो मुझसे सहमत नहीं, दोषारोपण काम ।
वो अज्ञानी मूर्ख हैं, रहे न उसका नाम ॥३-३२॥

सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर्ज्ञानवानपि ।
प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति ॥
वश में सभी स्वभाव के, हो ज्ञानी या लोक ।
प्रकृति ही सर्वोपरि, कौन सका है रोक ॥३-३३॥

इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ ।
तयोर्न वशमागच्छेत्तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ ॥
राग द्वेष को त्याग के, लें विषयों को जीत ।
शत्रु यही सबसे बड़े, दोनों ही मन मीत ॥३-३४॥

श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात् ।
स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः ॥
उत्तम दूजे धर्म से, गुण रहित निज धर्म ।
अंत सुखद निज कर्म का, दूजा भय का मर्म ॥३-३५॥

अर्जुन उवाच

अथ केन प्रयुक्तोऽयं पापं चरति पूरुषः ।
अनिच्छन्नपि वार्ष्णे बलादिव नियोजितः ॥
हे केशव! अर्जुन कहे, मुझे बतायें आप ।
क्यों लेता मन प्रेरणा, क्यों करता ये पाप ॥३-३६॥

श्रीभगवानुवाच

काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः ।
महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम् ॥
रजस करावे कामना, काम क्रोध का मूल ।
काम कराता पाप है, काम वासना शूल ॥३-३७॥

धूमेनाव्रियते वह्निर्यथादर्शो मलेन च ।
यथोल्बेनावृतो गर्भस्तथा तेनेदमावृतम् ॥
ज्यों धुएँ से आग ढँके, अरु दर्पण को धूल ।
जीव ढँके है कोख को, ज्ञान कामुक शूल ॥३-३८॥

आवृतं ज्ञानमेतेन ज्ञानिनो नित्यवैरिणा ।
कामरूपेण कौन्तेय दुष्पूरेणानलेन च ॥
इच्छा ऐसी आग है, कभी न जो बुझ पाय ।
इससे ना दुश्मन बड़ा, ज्ञान भस्म हो जाय ॥३-३९॥

इन्द्रियाणि मनो बुद्धिरस्याधिष्ठानमुच्यते ।
एतैर्विमोहयत्येष ज्ञानमावृत्य देहिनम् ॥

मन, बुद्धि और इंद्रियाँ, बड़े काम की जान ।
ज्ञान को भी वश में करे, पथ का रहे न भान ॥३-४०॥

तस्मात्त्वमिन्द्रियाण्यादौ नियम्य भरतर्षभ ।
पाप्मानं प्रजहि ह्येनं ज्ञानविज्ञाननाशनम् ॥

हे अर्जुन! कर इस तरह, मन तेरे वश होय ।
शत्रु ज्ञान विज्ञान का, नाश मूल से होय ॥३-४१॥

इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः ।
मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तु सः ॥

तन से बढ़कर इंद्रियाँ , मन को उत्तम मान ।
बुद्धि मन से है बड़ी, आत्मा सबकी जान ॥३-४२॥

एवं बुद्धेः परं बुद्ध्वा संस्तभ्यात्मानमात्मना ।
जहि शत्रुं महाबाहो कामरूपं दुरासदम् ॥

श्रेष्ठ आत्मा जानकर, बुद्धि से मन मार ।
शत्रु रूप यह कामना, कर इसका संहार ॥३-४३॥

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे
श्रीकृष्णार्जुनसंवादे कर्मयोगो नाम तृतीयोऽध्यायः ॥

॥ ॐ ॐ ॐ ॥

४. चतुर्थोऽध्यायः ज्ञानकर्मसन्यासयोग ॐ

श्रीभगवानुवाच

इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम् ।
विवस्वान्मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत् ॥
इस अविनाशी योग का, दिया सूर्य को ज्ञान ।
रवि कहे मनु-पुत्र से, मनु इक्ष्वाकु जान ॥४-१॥

एवं परम्पराप्राप्तमिमं राजर्षयो विदुः ।
स कालेनेह महता योगो नष्टः परन्तप ॥
परम्परा से योग बढ़ा, बना राजऋषि ज्ञान ।
लुप्तप्राय फिर हो गया, कई काल तक ज्ञान ॥४-२॥

स एवायं मया तेऽद्य योगः प्रोक्तः पुरातनः ।
भक्तोऽसि मे सखा चेति रहस्यं ह्येतदुत्तमम् ॥
भक्त सखा तू है मेरा, दिया पुरातन ज्ञान ।
सबसे उत्तम ज्ञान यही, राज़ ये उम्दा जान ॥४-३॥

अर्जुन उवाच

अपरं भवतो जन्म परं जन्म विवस्वतः ।
कथमेतद्विजानीयां त्वमादौ प्रोक्तवानिति ॥
आदिकाल से है रवि, जन्मा तू इस काल ।
क्यों मानूँ इस बात को, सूर्य तुम्हारा बाल ॥४-४॥

श्रीभगवानुवाच

बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन ।
तान्यहं वेद सर्वाणि न त्वं वेत्थ परन्तप ॥
मैं तू आये जगत में, लेकर जन्म अनेक ।
तुम्हें नहीं कुछ याद अब, याद मुझे हर एक ॥४-५॥

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन् ।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय संभवाम्यात्ममायया ॥
अविनाशी अजन्मा हूँ, जीवों का भगवान ।
स्थिर होता निज शक्ति में, बन जाता इंसान ॥४-६॥

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत ।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ॥
हो अधर्म का जब प्रचार, होय धर्म का नाश ।
धरता हूँ मैं रूप स्वयं, करूँ जगत में वास ॥४-७॥

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम् ।
धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे ॥
साधु जनों को तारना, पापी मन का नास ।
धर्म स्थापना के लिये, धरती करूँ निवास ॥४-८॥

जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः ।
त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन ॥
जन्म कर्म अलौकिक मम, समझे जो यह ज्ञान ।
फिर ना लेता जन्म वो, मिलता मुझको आन ॥४-९॥

वीतरागभयक्रोधा मन्मया मामुपाश्रिताः ।
बहवो ज्ञानतपसा पूता मद्भावमागताः ॥
राग रोष भय जब मिटे, मुझमें भक्त समाय ।
मुझ पर आश्रित भक्तगण, रूप मेरा ही पाय ॥४-१०॥

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम् ।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः ॥
हे अर्जुन तू भज मुझे, मैं भी भजूँ समान ।
पालन करते हैं सभी, और करें गुणगान ॥४-११॥

काङ्क्षन्तः कर्मणां सिद्धिं यजन्त इह देवताः ।
क्षिप्रं हि मानुषे लोके सिद्धिर्भवति कर्मजा ॥
चाह कर्मफल की रखें, जपें देव हर बार ।
इस मनुष्य के लोक में, फल मिलता तैयार ॥४-१२॥

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः ।
तस्य कर्तारमपि मां विद्ध्यकर्तारमव्ययम् ॥
चार वर्ण मैंने किये, गुण कर्मो को जान ।
सृष्टि रचयिता हूँ मगर, मुझे अकर्ता मान ॥४-१३॥

न मां कर्माणि लिम्पन्ति न मे कर्मफले स्पृहा ।
इति मां योऽभिजानाति कर्मभिर्न स बध्यते ॥
फल मेरी इच्छा नहीं, कर्म करूँ निष्काम ।
बँधें नहीं जो कर्म से, ले तत्वों से काम ॥४-१४॥

एवं ज्ञात्वा कृतं कर्म पूर्वैरपि मुमुक्षुभिः ।
कुरु कर्मैव तस्मात्त्वं पूर्वैः पूर्वतरं कृतम् ॥
कर्म किये हैं इस तरह, सन्तों ने चिरकाल ।
कर ले तू भी अनुसरण , पूर्वज कर्म कमाल ॥४-१५॥

किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः ।
तत्ते कर्म प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात् ॥
कर्म और अकर्म क्या, ज्ञानी भी भरमाय ।
कर्म तत्व मुझसे समझ, कर्ममुक्त हो जाय ॥४-१६॥

कर्मणो ह्यपि बोद्धव्यं बोद्धव्यं च विकर्मणः ।
अकर्मणश्च बोद्धव्यं गहना कर्मणो गतिः ॥
कर्म क्या है जान ले, ले अकर्म भी जान ।
समझे चलें विकर्म को, कर्म गहनता ज्ञान ॥४-१७॥

कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः ।
स बुद्धिमान्मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत् ॥
देखे कर्म अकर्म में, जो अकर्म में कर्म ।
बुद्धिमान मानव वही, योगी से है कर्म ॥४-१८॥

यस्य सर्वे समारम्भाः कामसंकल्पवर्जिताः ।
ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः ॥
बिन संकल्पित कामना, किये धर्म से कर्म ।
कर्म यज्ञ में भस्म किये, पंडित का ये धर्म ॥४-१९॥

त्यक्त्वा कर्मफलासङ्गं नित्यतृप्तो निराश्रयः ।
कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैव किंचित्करोति सः ॥
कर्मफल में जो नहीं, या आश्रित संसार ।
ईश्वर में जो लीन है, कर्म न उसका भार ॥४-२०॥

निराशीर्यतचित्तात्मा त्यक्तसर्वपरिग्रहः ।
शारीरं केवलं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम् ॥
अंतर्मन जो जीत सका, किया भोग का त्याग ।
कर्म ऐसे मानव के, पाप नहीं है भाग ॥४-२१॥

यदृच्छालाभसंतुष्टो द्वन्द्वातीतो विमत्सरः ।
समः सिद्धावसिद्धौ च कृत्वापि न निबध्यते ॥
प्राप्ति से संतुष्ट जो, नहीं जलन का भाव ।
ध्यान जिसे सुख दुःख नहीं, रहता कर्म अभाव ॥४-२२॥

गतसङ्गस्य मुक्तस्य ज्ञानावस्थितचेतसः ।
यज्ञायाचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते ॥
मोह - माया नहीं रहे, रहे ईश में ध्यान ।
ऐसा मानव यज्ञ करे, कर्म विलय हो जान ॥४-२३॥

ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम् ।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना ॥
द्रव्य अर्पण और हवन, तीनों भी हो ब्रह्म ।
क्रिया ब्रम्ह स्वरूप संग, फल योगी का ब्रह्म ॥४-२४॥

दैवमेवापरे यज्ञं योगिनः पर्युपासते ।
ब्रह्माग्नावपरे यज्ञं यज्ञेनैवोपजुह्वति ॥
पूजे योगी देव को, करके यज्ञ विधान ।
कुछ पूजे परब्रह्म को, दे खुद का बलिदान ॥४-२५॥

श्रोत्रादीनीन्द्रियाण्यन्ये संयमाग्निषु जुह्वति ।
शब्दादीन्विषयानन्य इन्द्रियाग्निषु जुह्वति ॥
भस्म इन्द्रियों को करें, संयम में कुछ लोग ।
कुछ इन्द्रियों की आग में जलते कर उपभोग ॥४-२६॥

सर्वाणीन्द्रियकर्माणि प्राणकर्माणि चापरे ।
आत्मसंयमयोगाग्नौ जुह्वति ज्ञानदीपिते ॥
सकल क्रियाएँ प्राण की, करें प्रकाशित ज्ञान ।
आत्म संयम योगसहित, करें अग्नि को दान ॥४-२७॥

द्रव्ययज्ञास्तपोयज्ञा योगयज्ञास्तथापरे ।
स्वाध्यायज्ञानयज्ञाश्च यतयः संशितव्रताः ॥
अर्पित करते यज्ञ में, लोग द्रव्य तप योग ।
व्रत धारक ऐसे मिले, तजे ज्ञान भी लोग ॥४-२८॥

अपाने जुह्वति प्राणं प्राणेऽपानं तथापरे ।
प्राणापानगती रुद्ध्वा प्राणायामपरायणाः ॥
लगकर प्राणायाम में, हवन प्राण का जान ।
लेन देन यह साँस का, इक दूजे को दान ॥४-२९॥

अपरे नियताहाराः प्राणान्प्राणेषु जुह्वति ।
सर्वेऽप्येते यज्ञविदो यज्ञक्षपितकल्मषाः ॥
हवन प्राण का प्राण में, कर नियमित आहार ।
पाप यज्ञ से नाश कर, समझ यज्ञ का सार ॥४-३०॥

यज्ञशिष्टामृतभुजो यान्ति ब्रह्म सनातनम् ।
नायं लोकोऽस्त्ययज्ञस्य कुतोऽन्यः कुरुसत्तम ॥
यज्ञ शेष का भोग करे, मोक्ष ज्ञानी पाय ।
जन जो करते यज्ञ नहीं, दुख सर्वत्र समाय ॥४-३१॥

एवं बहुविधा यज्ञा वितता ब्रह्मणो मुखे ।
कर्मजान्विद्धि तान्सर्वानेवं ज्ञात्वा विमोक्ष्यसे ॥
यज्ञ कई इस जगत में, मिले ब्रह्म की ओर ।
कर्म से उत्पन्न हो, मिले मोक्ष का छोर ॥४-३२॥

श्रेयान्द्रव्यमयाद्यज्ञाज्ज्ञानयज्ञः परन्तप ।
सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते ॥
ज्ञानयज्ञ ही श्रेष्ठ है, द्रव्य यज्ञ से पार्थ ।
ज्ञानयज्ञ की अग्नि में, भस्म कर्म के स्वार्थ ॥४-३३॥

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया ।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः ॥
ज्ञानी की जाओ शरण, जो लेना हो ज्ञान ।
प्रश्न मनन और चरण से, मिले तत्व का ज्ञान ॥४-३४॥

यज्ज्ञात्वा न पुनर्मोहमेवं यास्यसि पाण्डव ।
येन भूतान्यशेषेण द्रक्ष्यस्यात्मन्यथो मयि ।।
मिले ज्ञान ऐसा हमें, करे मोह का अंत ।
मिटे भेद सब जीव में, हो जाये मन सन्त ।।४-३५।।

अपि चेदसि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पाप.त्तमः ।
सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं सन्तरिष्यसि ।।
चाहे तू पापी परम, हो जायेगा पार ।
पकड़े नौका ज्ञान की, तर जाये संसार ।।४-३६।।

यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन ।
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा ।।
हे अर्जुन! ज्यों अग्नि से, ईंधन का हो नाश ।
ज्ञानाग्नि से उसी तरह, दुष्कर्मों का हास ।।४-३७।।

न हि ज्ञानेन स.शं पवित्रमिह विद्यते ।
तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति ।।
नहीं मिले संसार में, कारक ज्ञान समान ।
पावन करता आत्मा, कर्मयोग का ध्यान ।।४-३८।।

श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः ।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति ।।
वश में जिसके इंद्रियाँ, मन में श्रध्दा भाव ।
वो ज्ञानी तत्पर बनें, रहे न साथ अभाव ।।४-३९।।

अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति ।
नायं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः ॥
अज्ञानी श्रद्धा बिना, संशय से भरपूर ।
ऐसे मानव नष्ट हों, है हर लोक सुदूर ॥४-४०॥

योगसंन्यस्तकर्माणं ज्ञानसंछिन्नसंशयम् ।
आत्मवन्तं न कर्माणि निबध्नन्ति धनंजय ॥
अर्जुन कर्म विवेक से, कर संशय का नाश ।
अर्जुन वश ना करम के, मानव का विश्वास ॥४-४१॥

तस्मादज्ञानसम्भूतं हृत्स्थं ज्ञानासिनात्मनः ।
छित्त्वैनं संशयं योगमातिष्ठोत्तिष्ठ भारत ॥
हे अर्जुन संशय सदा, करो ज्ञान से दूर ।
कर्मयोग में थिर रहो, चलो न रण से दूर ॥४-४२॥

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे
श्रीकृष्णार्जुनसंवादे ज्ञानकर्मसंन्यासयोगो नाम चतुर्थोऽध्यायः ॥

॥ ॐ ॐ ॐ ॥

५. पञ्चमोऽध्यायः कर्मसन्यासयोगः ॐ

अर्जुन उवाच

संन्यासं कर्मणां कृष्ण पुनर्योगं च शंससि ।
यच्छ्रेय एतयोरेकं तन्मे ब्रूहि सुनिश्चितम् ॥
हे केशव! निश्चित् करें, उचित रहे क्या बात ।
कर्म योग, सन्यास में, क्या है अच्छी बात ॥५-१॥

श्रीभगवानुवाच

संन्यासः कर्मयोगश्च निःश्रेयसकरावुभौ ।
तयोस्तु कर्मसंन्यासात्कर्मयोगो विशिष्यते ॥
दोनों में कल्याण है, कर्मयोग - सन्यास ।
होत श्रेष्ठ केशव कहे, कर्मठ योग प्रवास ॥५-२

ज्ञेयः स नित्यसंन्यासी यो न द्वेष्टि न काङ्क्षति ।
निर्द्वन्द्वो हि महाबाहो सुखं बन्धात्प्रमुच्यते ॥
कर्मवीर जप-तप करे, द्वेष रखे ना राग ।
पार्थ उसे मुक्ति मिले, करे मोह का त्याग ॥५-३॥

सांख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः ।
एकमप्यास्थितः सम्यगुभयोर्विन्दते फलम् ॥
अज्ञानी ही अलग कहे, कर्मयोग सन्यास ।
दोनों से भगवन मिले, सम्यक करें प्रयास ॥५-४॥

यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते ।
एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति सरू पश्यति ॥
मोक्ष ज्ञानयोगी चखे, कर्मयोग भी पाय ।
फर्क न दोनों में कहीं, ज्ञानीजन समझाय ॥५-५॥

संन्यासस्तु महाबाहो दुःखमाप्तुमयोगतः ।
योगयुक्तो मुनिर्ब्रह्म नचिरेणाधिगच्छति ॥
कर्मयोग अनुभव बिना, कठिन मार्ग सन्यास ।
कर्म समर्पित जब करें, रहे ब्रम्ह के पास ॥५-६॥

योगयुक्तो विशुद्धात्मा विजितात्मा जितेन्द्रियः ।
सर्वभूतात्मभूतात्मा कुर्वन्नपि न लिप्यते ॥
वश में जिसके मन रहे, लेय इन्द्रियाँ जीत ।
नहीं लिप्त जो कर्म में, रहे आत्म का मीत ॥५-७॥

नैव किंचित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित् ।
पश्यञ्श्रृण्वन्स्पृशञ्जिघ्रन्नश्नन्गच्छन्स्वपञ्श्वसन् ॥
देख, सुन, छू, सूंघ, चख, सोते, चलते, साँस ।
सांख्ययोगी तत्व धनी, काज न समझे खास ॥५-८॥

प्रलपन्विसृजन्गृह्णन्नुन्मिषन्निमिषन्नपि ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्त इति धारयन् ॥
पकड़े बोले या तजे, खुली आँख या ध्यान ।
अलग अलग हैं इन्द्रियाँ, सबका अपना मान ॥५-९॥

ब्रह्मण्याधाय कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः ।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा ॥
आसक्ति को त्यागकर, करता अपना काम ।
कर्म उसे छूता नहीं, कीच कमल सा धाम ॥५-१०॥

कायेन मनसा बुद्ध्या केवलैरिन्द्रियैरपि ।
योगिनः कर्म कुर्वन्ति सङ्गं त्यक्त्वात्मशुद्धये ॥
आसक्ति को त्यागकर, योगी करता काम ।
तन मन बुद्धि इंद्रियाँ, करतीं अपना काम ॥५-११॥

युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीम् ।
अयुक्तः कामकारेण फले सक्तो निबध्यते ॥
शांति कर्मठ को मिले, करके फल का त्याग ।
कर्म बंधनों में फँसे, रखे काम से राग ॥५-१२॥

सर्वकर्माणि मनसा संन्यस्यास्ते सुखं वशी ।
नवद्वारे पुरे देही नैव कुर्वन्न कारयन् ॥
जिसके वश अन्तःकरण, रखे करम ना भार ।
करवाये ना खुद करे, देह सुखी नौ द्वार ॥५-१३॥

न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः ।
न कर्मफलसंयोगं स्वभावस्तु प्रवर्तते ॥
ना तन धारी स्वयं करे, ना करवाते काम ।
ये सारा है प्राकृतिक, वृत्ति का अंजाम ॥५-१४॥

नादत्ते कस्यचित्पापं न चौव सुकृतं विभुः ।
अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः ॥
ईश्वर भी ना ग्रहण करे, पुण्य रहे या पाप ।
ढँका ज्ञान, अज्ञान से, मोहित मानव आप ॥५-१५॥

ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां नाशितमात्मनः ।
तेषामादित्यवज्ज्ञानं प्रकाशयति तत्परम् ॥
आत्मज्ञान प्रकाश से, जाता है अज्ञान ।
फैले ज्ञान प्रकाश का, चमके सूर्य समान ॥५-१६॥

तद्बुद्धयस्तदात्मानस्तन्निष्ठास्तत्परायणाः ।
गच्छन्त्यपुनरावृत्तिं ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः ॥
मन बुद्धि सत् चित् आनन्द, यही निरंतर बात ।
पापरहित ज्ञानी पुरुष, परमगति को प्राप्त ॥५-१७॥

विद्याविनयसंपन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि ।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः ॥
गुणी विनयवत ब्राह्मण, गाय रहे या श्वान ।
हाथी या चाण्डाल हो, ज्ञानी एक समान ॥५-१८॥

इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः ।
निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद्ब्रह्मणि ते स्थिताः ॥
मन जिसका समभाव है, जीत लिया संसार ।
है पवित्र परमात्मा, हो भवसागर पार ॥५-१९॥

न प्रहृष्येत्प्रियं प्राप्य नोद्विजेत्प्राप्य चाप्रियम् ।
स्थिरबुद्धिरसंमूढो ब्रह्मविद्ब्रह्मणि स्थितः ॥
प्रिय प्राप्ति से खुश न हो, अप्रिय भी स्वीकार ।
भाव सदा ही सम रहे, ईश्वर करते प्यार ॥५-२०॥

बाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्मा विन्दत्यात्मनि यत् सुखम् ।
स ब्रह्मयोगयुक्तात्मा सुखमक्षयमश्नुते ॥
राग नहीं जब जगत से, आत्मा ये सुख पाय ।
ब्रम्हलीन योगी बने, अक्षय सुख पा जाय ॥५-२१॥

ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते ।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः ॥
आदि हो या अंत रहे, भोग दुखों का योग ।
अर्जुन ज्ञानी जानते, इंद्रिय सुख है रोग ॥५-२२॥

शक्नोतीहैव यः सोढुं प्राक्शरीरविमोक्षणात् ।
कामक्रोधोद्भवं वेगं स युक्तः स सुखी नरः ॥
काम क्रोध को त्याग कर, फिर हो जग का त्याग ।
वह नर ही बलवान है, योगी उसका राग ॥५-२३॥

योऽन्तःसुखोऽन्तरारामस्तथान्तर्ज्योतिरेव यः ।
स योगी ब्रह्मनिर्वाणं ब्रह्मभूतोऽधिगच्छति ॥
जिस जन को अंदर मिले, सुख आनंदी ज्ञान ।
परम ब्रह्म को प्राप्त करे, योगी ऐसा जान ॥५-२४॥

लभन्ते ब्रह्मनिर्वाणमृषयः क्षीणकल्मषाः ।
छिन्नद्वैधा यतात्मानः सर्वभूतहिते रताः ॥
पाप नष्ट जिसके हुए, काटे संशय ज्ञान ।
हितकारी हर जीव को, मिले ब्रम्ह तू जान ॥५-२५॥

कामक्रोधवियुक्तानां यतीनां यतचेतसाम् ।
अभितो ब्रह्मनिर्वाणं वर्तते विदितात्मनाम् ॥
रहित रहे भय क्रोध से, अगर आत्म का ज्ञान ।
ऐसे ज्ञानी पुरुष में, रहते ब्रह्म विधान ॥५-२६॥

स्पर्शान्कृत्वा बहिर्बाह्यांश्चक्षुश्चौवान्तरे भ्रुवोः ।
प्राणापानौ समौ कृत्वा नासाभ्यन्तरचारिणौ ॥
विषय भोग करता नहीं, रखता दृष्टि सुजान ।
प्राण नियंत्रित जो करे, रख कर श्वास समान ॥५-२७॥

यतेन्द्रियमनोबुद्धिर्मुनिर्मोक्षपरायणः ।
विगतेच्छाभयक्रोधो यः सदा मुक्त एव सः ॥
जीत इन्द्रियाँ बुद्धि मन, मोक्षपरायण जीव ।
रहित रहे भय क्रोध से, रखे मोक्ष की नींव ॥५-२८॥

भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम् ।
सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति ॥
भक्त यज्ञ तप भोगता, बने महेश्वर लोक ।
स्वार्थ रहित प्रेमी बने, तय शांति परलोक ॥५-२९॥

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे
श्रीकृष्णार्जुनसंवादे कर्मसंन्यासयोगो नाम पञ्चमोऽध्यायः ॥

॥ ॐ ॐ ॐ ॥

६. षष्ठोऽध्यायः आत्मसंयमयोग ॐ

अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः ।
स संन्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाक्रियः ॥
हो चिंता फल की नहीं, करें योग्य ही काम ।
सच्चे सन्यासी बनें, साधु महज है नाम ॥६-१॥

यं संन्यासमिति प्राहुर्योगं तं विद्धि पाण्डव ।
न ह्यसंन्यस्तसंकल्पो योगी भवति कश्चन ॥
अर्जुन योगी कौन है, सन्यासी पहचान ।
त्यागे इच्छाएँ नहीं, योगी तू ना मान ॥६-२॥

आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते ।
योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते ॥
एक मार्ग है कर्म ही, पाना चाहे योग ।
जान लिया जब योग है, शांति कर्म संयोग ॥६-३॥

यदा हि नेन्द्रियार्थेषु न कर्मस्वनुषज्जते ।
सर्वसंकल्पसन्यासी योगारूढस्तदोच्यते ॥
भोगे ना जो इन्द्रियाँ, नहीं कर्मफल भान ।
छोड़े इच्छाएँ सभी, योगी उसको मान ॥६-४॥

उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत् ।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः ॥
बढ़ तू ऊपर ही सदा, नीचे मत रख चाल ।
तू ही अपना मित्र है, तू ही शत्रु का जाल ॥६-५॥

बन्धुरात्मात्मनस्तस्य येनात्मैवात्मना जितः ।
अनात्मनस्तु शत्रुत्वे वर्तेतात्मैव शत्रुवत् ॥
मन वश में जिसने किया, मित्र वो अपना आप ।
जो मन के वश में रहे, स्वतः शत्रु का श्राप ॥६-६॥

जितात्मनः प्रशान्तस्य परमात्मा समाहितः ।
शीतोष्णसुखदुःखेषु तथा मानापमानयोः ॥
स्व जीत से चैन मिले, ईश्वर भी मिल जाय ।
सर्दी गर्मी सुख दुख हो, निन्दा यश न सताय ॥६-७॥

ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा कूटस्थो विजितेन्द्रियः ।
युक्त इत्युच्यते योगी समलोष्टाश्मकाञ्चनः ॥
विद्या से जो तृप्त हो, लिए इन्द्रियाँ जीत ।
माटी को सोना कहे, योगी की यह रीत ॥६-८॥

सुहृन्मित्रार्युदासीनमध्यस्थद्वेष्यबन्धुषु ।
साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते ॥
सदा रखे सम भाव जो, नहीं आंतरिक-भाव ।
मित्र - शत्रु हो ग़ैर - सगा, पापी संत समभाव ॥६-९॥

योगी युञ्जीत सततमात्मानं रहसि स्थितः ।
एकाकी यतचित्तात्मा निराशीरपरिग्रहः ॥
योगी खोजे हर समय, लगातार एकांत ।
इच्छारहित अपरिग्रही, मन को रखते शांत ॥६-१०॥

शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः ।
नात्युच्छ्रितं नातिनीचं चौलाजिनकुशोत्तरम् ॥
साफ जगह आसन बिछा, स्थिर मन रख हर हाल ।
ऊँचा ना, नीचा कहीं, तृण वस्त्र मृग छाल ॥६-११॥

तत्रैकाग्रं मनः .त्वा यतचित्तेन्द्रियक्रियः ।
उपविश्यासने युञ्ज्याद्योगमात्मविशुद्धये ॥
वश में हों चित् इंद्रियाँ, मन का रख के ध्यान ।
योगी योगाभ्यास में, आसन का सम्मान ॥६-१२॥

समं कायशिरोग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरः ।
सम्प्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन् ॥
काया मस्तक और गला, रख ले अचल समान ।
स्थिर दृष्टि पे नासिका, चारों दिशा न ध्यान ॥६-१३॥

प्रशान्तात्मा विगतभीर्ब्रह्मचारिव्रते स्थितः ।
मनः संयम्य मच्चित्तो युक्त आसीत मत्परः ॥
मन निर्भय और शान्त हो, ब्रह्मचारी व्रत मान ।
संयत हो बैठा रहे , मुझ में रख के ध्यान ॥६-१४॥

युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी नियतमानसः ।
शान्तिं निर्वाणपरमां मत्संस्थामधिगच्छति ॥
जिसका मन वश में रहे, सदा करे जो योग ।
चैन मिले हर हाल में , मुझ से हो संयोग ॥६-१५

नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति न चैकान्तमनश्नतः ।
न चाति स्वप्नशीलस्य जाग्रतो नैव चार्जुन ॥
अर्जुन ऐसा योग है, खान पान ना होय ।
क्या सुप्त चैतन्य क्या, सिद्ध नहीं हो कोय ॥६-१६॥

युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु ।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा ॥
यथायोग्य खाये फिरे, कर के उचित प्रयास ।
यथायोग्य सोये जगे, योग करे दुख नाश ॥६-१७॥

यदा विनियतं चित्तमात्मन्येवावतिष्ठते ।
निःस्पृहः सर्वकामेभ्यो युक्त इत्युच्यते तदा ॥
चित्त अगर वश में रहे, आत्मा में मिल जाय ।
इच्छा रहे न काम की, वह योगी कहलाय ॥६-१८॥

यथा दीपो निवातस्थो नेङ्गते सोपमा स्मृता ।
योगिनो यतचित्तस्य युञ्जतो योगमात्मनः ॥
दीप नही है काँपता, हो जो वायु अभाव ।
चित्त दीप है योगी का, अनुशासन का भाव ॥६-१९॥

यत्रोपरमते चित्तं निरुद्धं योगसेवया ।
यत्र चैवात्मनात्मानं पश्यन्नात्मनि तुष्यति ॥
एकाग्रता अभ्यास से, शांत चित्त को पाय ।
आत्मा से आत्मा दिखे, परमानंद सहाय ॥६-२०॥

सुखमात्यन्तिकं यत्तद् बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम् ।
वेत्ति यत्र न चौवायं स्थितश्चलति तत्त्वतः ॥
अतीन्द्रिय आनन्द मिले, सूक्ष्म बुद्धि से पाय ।
विचलित वो होवे नहीं, योगी में रह जाय ॥६-२१॥

यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः ।
यस्मिन्स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते ॥
पा ले जब परमात्म को, समझ उच्चतम बात ।
विचलित वो होवे नही, चाहे हो आघात ॥६-२२॥

तं विद्याद्दुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम् ।
स निश्चयेन योक्तव्यो योगोऽनिर्विण्णचेतसा ॥
दुख दुनिया संयोग से, अलग वही जो योग ।
जोश व धीरज से करे, विचलित चित्त न रोग ॥६-२३॥

संकल्पप्रभवान्कामांस्त्यक्त्वा सर्वानशेषतः ।
मनसैवेन्द्रियग्रामं विनियम्य समन्ततः ॥
उपजे संकल्पित कामना, करते उनका त्याग ।
इन्द्रियाँ वश में करें, मन में ना हो राग ॥६-२४॥

शनैः शनैरुपरमेद्बुद्ध्या धृतिगृहीतया ।
आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किंचिदपि चिन्तयेत् ॥
धीरे धीरे साधना, मेधा वश हो जाय ।
करें न और विचार अब, चित्त पकड़ में आय ॥६-२५॥

यतो यतो निश्चरति मनश्चञ्चलमस्थिरम् ।
ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत् ॥
मन चंचल है स्थिर नहीं, भागे इत उत ओर ।
काबू उसको कीजिये, पकड़े मन की डोर ॥६-२६॥

प्रशान्तमनसं ह्येनं योगिनं सुखमुत्तमम् ।
उपैति शान्तरजसं ब्रह्मभूतमकल्मषम् ॥
पाप रहित मन शांत जो, शांत रजोगुण होय ।
एक हुआ परब्रम्ह से, आनंद अनुभव होय ॥६-२७॥

युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी विगतकल्मषः ।
सुखेन ब्रह्मसंस्पर्शमत्यन्तं सुखमश्नुते ॥
पापरहित योगी हुआ, अंतरमन में योग ।
परमसत्य से जो जुड़ा, परमानंद का भोग ॥६-२८॥

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि ।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः ॥
दिखे सभी में आत्मा, भूत आत्म समान ।
ब्रम्हलीन योगी सदा, देखे एक ही जान ॥६-२९॥

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति ।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति ॥
देखे जो सर्वत्र मुझे, मुझमे सबको पाय ।
छुप ना वो मुझसे सके, छुपा न मुझसे जाय ॥६-३०॥

सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः ।
सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते ॥
देख मुझे हर जीव में, भजता एक समान ।
विद्यमान मुझमे रहे, वह योगी विद्वान् ॥६-३१॥

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन ।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः ॥
अपनी भाँति सब जगह, देखे पार्थ समान ।
सम सुख या तो दुख रहे, योगी उत्तम जान ॥६-३२॥

अर्जुन उवाच

योऽयं योगस्त्वया प्रोक्तः साम्येन मधुसूदन ।
एतस्याहं न पश्यामि चञ्चलत्वात्स्थितिं स्थिराम् ॥
बात करे पथ - योग की, मधुसूदन तू जान ।
चंचल मन थिर ना रहे, मेरा ये अनुमान ॥६-३३॥

चञ्चलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद्दृढम् ।
तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम् ॥
केशव मन चंचल रहे, हठ में है बलवान ।
ज्यों वायु वश है कठिन, दुष्कर ऐसा जान ॥६-३४॥

असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम् ।
अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते ।।
हे वीर संदेह नहीं, मन वश भारी काम ।
बैरागी अभ्यास से, अर्जुन मन को थाम ।।६-३५।।

असंयतात्मना योगो दुष्प्राप इति मे मतिः ।
वश्यात्मना तु यतता शक्योऽवाप्तुमुपायतः ।।
असंयत मन योग नहीं, ऐसी मेरी राय ।
मन को वश कर जो करे, आत्मयोग वह पाय ।।६-३६।।

अर्जुन उवाच

अयतिः श्रद्धयोपेतो योगाच्चलितमानसः ।
अप्राप्य योगसंसिद्धिं कां गतिं कृष्ण गच्छति ।।
रख के श्रद्धा योग में, मन विचलित हो जाय ।
नहीं योग केशव मिले, वो जन किस गति जाय ।।६-३७।।

कच्चिन्नोभयविभ्रष्टश्छिन्नाभ्रमिव नश्यति ।
अप्रतिष्ठो महाबाहो विमूढो ब्रह्मणः पथि ।।
बादल बिछड़े नष्ट हो, योग मिले ना भोग ।
योगी भटके मोह में, केशव कैसा रोग ।।६-३८।।

एतन्मे संशयं कृष्ण छेत्तुमर्हस्यशेषतः ।
त्वदन्यः संशयस्यास्य छेत्ता न ह्युपपद्यते ।।
यह मेरा संदेह है, दूर करें प्रभु आप ।
नही आप सा और है, दूर करें संताप ।।६-३९।।

कृष्ण उवाच

पार्थ नैवेह नामुत्र विनाशस्तस्य विद्यते ।
न हि कल्याणकृत्कश्चिद्दुर्गतिं तात गच्छति ॥
अर्जुन होता नाश नहीं, लोक होय परलोक ।
जो रहते कल्याण पथ, कोई सके न रोक ॥६-४०॥

प्राप्य पुण्यकृतां लोकानुषित्वा शाश्वतीः समाः ।
शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते ॥
जो योगी असफल रहे, पवित्र लोक पश्चात ।
अच्छा कुल स्वागत करे, पार्थ नहीं कुछ बात ॥६-४१॥

अथवा योगिनामेव कुले भवति धीमताम् ।
एतद्धि दुर्लभतरं लोके जन्म यदीदृशम् ॥
या जन्मे उस कुल सदा, बुद्धिमान पहचान ।
दुर्लभ ऐसे जन्म है, अर्जुन ऐसा जान ॥६-४२॥

तत्र तं बुद्धिसंयोगं लभते पौर्वदेहिकम् ।
यतते च ततो भूयः संसिद्धौ कुरुनन्दन ॥
पूर्व जन्म की चेतना, बारम्बार सुयोग ।
अर्जुन पुनःप्रयास करे, जन्म करे उपयोग ॥६-४३॥

पूर्वाभ्यासेन तेनैव ह्रियते ह्यवशोऽपि सः ।
जिज्ञासुरपि योगस्य शब्दब्रह्मातिवर्तते ॥
पूर्व जन्म अभ्यास से, फिर आकर्षित होत ।
जिज्ञासु बन योग के, जले न तप की जोत ॥६-४४॥

प्रयत्नाद्यतमानस्तु योगी संशुद्धकिल्बिषः ।
अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम् ॥
देखा सतत प्रयास से, योगी मिटते पाप ।
बाद अनेकों जन्म भी, मिलता परम् प्रताप ॥६-४५॥

तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः ।
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुन ॥
हो ज्ञानी या तपस्वी, योगी बड़ा महान ।
सत्यकाम कर्मी बड़ा, योगी अर्जुन जान ॥६-४६॥

योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना ।
श्रद्धावान् भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः ॥
अन्तर में मुझको रखे, उत्तम योगी जान ।
भक्ति से मुझको भजे, योगी परम महान ॥६-४७॥

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे
श्रीकृष्णार्जुनसंवादे आत्मसंयमयोगो नाम षष्ठोऽध्यायः ॥

॥ ॐ ॐ ॐ ॥

७. सप्तमोऽध्यायः ज्ञानविज्ञानयोग ॐ

श्रीभगवानुवाच

मय्यासक्तमनाः पार्थ योगं युञ्जन्मदाश्रयः ।
असंशयं समग्रं मां यथा ज्ञास्यसि तच्छृणु ॥
मुझ पर हो आसक्त तुम, पार्थ योग अभ्यास ।
जान सको निश्चित मुझको, सुन लो करो प्रयास ॥७-१॥

ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानमिदं वक्ष्याम्यशेषतः ।
यज्ज्ञात्वा नेह भूयोऽन्यज्ज्ञातव्यमवशिष्यते ॥
अब मैं तुमसे कह रहा, पूर्ण दिव्य विज्ञान ।
अर्जुन जिस को जानकर, शेष रहे ना ज्ञान ॥७-२॥

मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये ।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः ॥
कई हज़ार में एक ही, करता सिद्ध-प्रयास ।
सिद्धों में से एक मगर, मुझको जाने ख़ास ॥७-३॥

भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च ।
अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा ॥
भूजल अग्नि वायु गगन, बुद्धि दर्प अपार ।
यही है मेरी प्रकृति, यही मूल यह सार ॥७-४॥

अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम् ।
जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत् ॥
आठ शक्तियाँ जड़ रहे, उत्तम शक्ति जान ।
जीव बिना ये जग नहीं, परम् पार्थ तू मान ॥७-५॥

एतद्योनीनि भूतानि सर्वाणीत्युपधारय ।
अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा ॥
मैं ही जीव अजीव हूँ, सबका कारण जान ।
आदि रहे या अंत हो, मुझको कारण मान ॥७-६॥

मत्तः परतरं नान्यत्किंचिदस्ति धनंजय ।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव ॥
श्रेष्ठ नहीं मुझसे कोई, देख धनंजय जान ।
मुझमें ही सब बँध गए, धागा माला मान ॥७-७॥

रसोऽहमप्सु कौन्तेय प्रभास्मि शशिसूर्ययोः ।
प्रणवः सर्ववेदेषु शब्दः खे पौरुषं नृषु ॥
मैं ही जल का स्वाद हूँ, सूरज चन्द्र प्रकाश ।
मैं वैदिक ओंकार हूँ, गर्जन ले आकाश ॥७-८॥

पुण्यो गन्धः पृथिव्यां च तेजश्चास्मि विभावसौ ।
जीवनं सर्वभूतेषु तपश्चास्मि तपस्विषु ॥
मैं ही भू की गंध हूँ, मैं ही अग्नि का तेज ।
मैं जीवों में जीव हूँ, तपस्वियों का तेज ॥७-९॥

बीजं मां सर्वभूतानां विद्धि पार्थ सनातनम् ।
बुद्धिर्बुद्धिमतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम् ॥
सब जीवों का बीज मैं, पार्थ सनातन जान ।
विद्वानों की बुद्धि मैं, मैं ही तेज महान ॥७-१०॥

बलं बलवतां चाहं कामरागविवर्जितम् ।
धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ ॥
बलवानों का बल सदा अनासक्त निष्काम ।
धर्मपरायण हे अर्जुन, शास्त्र ये सम्मत काम ॥७-११॥

ये चैव सात्त्विका भावा राजसास्तामसाश्च ये ।
मत्त एवेति तान्विद्धि न त्वहं तेषु ते मयि ॥
मुझसे ही गुण हैं सभी, रजो तमो सत मान ।
हर गुण में मै ही सदा, मुझे गुणरहित जान ॥७-१२॥

त्रिभिर्गुणमयैर्भावैरेभिः सर्वमिदं जगत् ।
मोहितं नाभिजानाति मामेभ्यः परमव्ययम् ॥
तीन गुणों के भाव से, यह सारा संसार ।
मोहित जग ना जानता, मेरा यह विस्तार ॥७-१३॥

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया ।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते ॥
कठिन पार करना रहे, दिव्य सगुण संसार ।
जो मानव मुझ को भजे, वैतरणी वह पार ॥७-१४॥

न मां दुष्कृतिनो मूढाः प्रपद्यन्ते नराधमाः ।
माययापहृतज्ञाना आसुरं भावमाश्रिताः ॥
शरण मेरी आता नहीं, मूढ़ अधम जो होय ।
दूर रहे ज्ञानी भ्रमित, असुर न जाने मोय ॥७-१५॥

चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन ।
आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ ॥
चार लोग भजते मुझे, अर्जुन अच्छे लोग ।
ज्ञानी जिज्ञासू दुखी, लोभी जैसे लोग ॥७-१६॥

तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते ।
प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः ॥
उत्तम ज्ञानी चार में, खास भक्त तू मान ।
मैं भी उसको प्रिय रहूँ, प्रिय मुझे वह जान ॥७-१७॥

उदाराः सर्व एवैते ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम् ।
आस्थितः स हि युक्तात्मा मामेवानुत्तमां गतिम् ॥
सब ये लोग उदार हैं, ज्ञानी उत्तम होय ।
मुझमें ही वे बस रहें, परम मिलेगा तोय ॥७-१८॥

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते ।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः ॥
कई जन्म के अंत में, ज्ञानी मुझको पाय ।
वासुदेव मुझको समझ, भज दुर्लभ कहलाय ॥७-१९॥

कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञानाः प्रपद्यन्तेऽन्यदेवताः ।
तं तं नियममास्थाय प्रकृत्या नियताः स्वया ॥
ज्ञान रहित कामी पुरुष, भजते नाना देव ।
इधर उधर भटके उन्हें, मिले ना वासुदेव ॥७-२०॥

यो यो यां यां तनुं भक्तः श्रद्धयार्चितुमिच्छति ।
तस्य तस्याचलां श्रद्धां तामेव विदधाम्यहम् ॥
जो भजता जो देवता, श्रद्धा रखता खास ।
स्थिर वह श्रद्धा मैं करूँ, दैवी मिले उजास ॥७-२१॥

स तया श्रद्धया युक्तस्तस्याराधनमीहते ।
लभते च ततः कामान्मयैव विहितान्हि तान् ॥
पूजे देव विशेष जो, करता मन से ध्यान ।
पूरी होवे कामना, मेरे द्वारा जान ॥७-२२॥

अन्तवत्तु फलं तेषां तद्भवत्यल्पमेधसाम् ।
देवान्देवयजो यान्ति मद्भक्ता यान्ति मामपि ॥
अल्पबुद्धि फल क्षणिक है, फल का होता नाश ।
देवलोक पूजन मिले, मैं भक्तों का वास ॥७-२३॥

अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं मन्यन्ते मामबुद्धयः ।
परं भावमजानन्तो ममाव्ययमनुत्तमम् ॥
मन्दबुद्धि समझे मुझे, प्रकट बिना आधार ।
परमरूप नहीं जानते, देते हैं आकार ॥७-२४॥

नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः ।
मूढोऽयं नाभिजानाति लोको मामजमव्ययम् ॥
प्रगट नहीं सबके लिए, माया चारों ओर ।
मूढ़ मुझे समझे नहीं, मै अविनाशी मोर ॥७-२५॥

वेदाहं समतीतानि वर्तमानानि चार्जुन ।
भविष्याणि च भूतानि मां तु वेद न कश्चन ॥
हे अर्जुन! मै जानता, भूत सहित हर काल ।
जानूँ भावी जीव को, लोग न जाने चाल ॥७-२६॥

इच्छाद्वेषसमुत्थेन द्वन्द्वमोहेन भारत ।
सर्वभूतानि संमोहं सर्गे यान्ति परन्तप ॥
राग द्वेष का उदय ही, पार्थ मोहिनी चाल ।
जीव फँसे सम्मोहन में, मिलता माया जाल ॥७-२७॥

येषां त्वन्तगतं पापं जनानां पुण्यकर्मणाम् ।
ते द्वन्द्वमोहनिर्मुक्ता भजन्ते मां दृढव्रताः ॥
नष्ट पाप जिनके हुए, पावन जिनके काम ।
मुक्त मोह से वह रहे, भजते मेरा नाम ॥७-२८॥

जरामरणमोक्षाय मामाश्रित्य यतन्ति ये ।
ते ब्रह्म तद्विदुः कृत्स्नमध्यात्मं कर्म चाखिलम् ॥
रोग मरण से मुक्ति मिले, शरणागत जो होय ।
ब्रह्म रुप वो जानते, कर्म आध्यात्मिक होय ॥७-२९॥

साधिभूताधिदैवं मां साधियज्ञं च ये विदुः ।
प्रयाणकालेऽपि च मां ते विदुर्युक्तचेतसः ॥
देव, जगत या यज्ञ हो, मेरा ही परताप ।
जो जाने इस बात को, मृत्यु लगे ना पाप ॥७-३०॥

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे ।
श्रीकृष्णार्जुनसंवादे ज्ञानविज्ञानयोगो नाम सप्तमोऽध्यायः ॥

॥ ॐ ॐ ॐ ॥

८. अष्टमोध्यायः अक्षरब्रह्मयोग ॐ

अर्जुन उवाच

किं तद्ब्रह्म किमध्यात्मं किं कर्म पुरुषोत्तम ।
अधिभूतं च किं प्रोक्तमधिदैवं किमुच्यते ॥
ब्रह्म, आत्मा, कर्म क्या? कह पुरुषोत्तम राज ।
भौतिक जग समझा मुझे, देव जगत का राज ॥८-१॥

अधियज्ञः कथं कोऽत्र देहेऽस्मिन्मधुसूदन ।
प्रयाणकाले च कथं ज्ञेयोऽसि नियतात्मभिः ॥
हे मधुसूदन! दो बता, यज्ञ, देह में कौन? ।
कैसे जाने भक्त तुझे, अंतकाल जब मौन ॥८-२॥

श्रीभगवानुवाच

अक्षरं ब्रह्म परमं स्वभावोऽध्यात्ममुच्यते ।
भूतभावोद्भवकरो विसर्गः कर्मसंज्ञितः ॥
अविनाशी जीव ब्रह्म हैं, आध्यात्मिक निज भाव ।
काम जीव कोई करे, रहे कर्म का भाव ॥८-३॥

अधिभूतं क्षरो भावः पुरुषश्चाधिदैवतम् ।
अधियज्ञोऽहमेवात्र देहे देहभृतां वर ॥
भाव जगत का परिवर्तन, पुरुष देव कहलाय ।
बसता हूँ हर जीव में, जीव परम् हो जाय ॥८-४॥

अन्तकाले च मामेव स्मरन्मुक्त्वा कलेवरम् ।
यः प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशयः ॥
मन में मुझ को मान के, होय देह परित्याग ।
मुझमें आकर वह मिले, सकल भरम का त्याग ॥८-५॥

यं यं वापि स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम् ।
तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः ॥
भाव जैसे दाद रहे, अंतकाल जब पास ।
अर्जुन वैसा फल मिले, जीव रखे जो आस ॥८-६॥

तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च ।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयम् ॥
धारण कर मन में मुझे, करे युद्ध सब काल ।
अर्पण कर दे मन मुझे, पहुँचेगा हर हाल ॥८-७॥

अभ्यासयोगयुक्तेन चेतसा नान्यगामिना ।
परमं पुरुषं दिव्यं याति पार्थानुचिन्तयन् ॥
करे सतत मुझको स्मरण, चित्त न विचलित होय ।
वो परमेश्वर को मिले, पार्थ विलय हो मोय ॥८-८॥

कविं पुराणमनुशासितार-मणोरणीयांसमनुस्मरेद्यः ।
सर्वस्य धातारमचिन्त्यरूप, मादित्यवर्णं तमसः परस्तात् ॥
आदि ज्ञाता परम पिता, सूक्ष्म अणु से मान ।
तमहर्ता अचिन्त्य परम, दिव्यात्मा तू जान ॥८-९॥

प्रयाणकाले मनसाचलेन, भक्त्या युक्तो योगबलेन चौव ।
भ्रुवोर्मध्ये प्राणमावेश्य सम्यक् स तं परं पुरुषमुपैति दिव्यम् ॥
अंतकाल मन से अचल, योगभक्ति लग जाय ।
प्राण भौंह के बीच हो, परम पुरुष रम पाय ॥८-१०॥

यदक्षरं वेदविदो वदन्ति, विशन्ति यद्यतयो वीतरागाः ।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति, तत्ते पदं संग्रहेण प्रवक्ष्ये ॥
वेदों के ज्ञाता रहे, या सन्यासी जीव ।
ब्रह्चर्य मुझसे पढ़े, पुख्ता होती नींव ॥८-११॥

सर्वद्वाराणि संयम्य मनो हृदि निरुध्य च ।
मूधर्न्याधायात्मनः प्राणमास्थितो योगधारणाम् ॥
देह द्वार संयम करे, मन वश में जो होय ।
प्राण शीश केंद्रित करे, शांत योग में होय ॥८-१२॥

ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन् ।
यः प्रयाति त्यजन्देहं स याति परमां गतिम् ॥
जपे ब्रह्म ओंकार का, मन में मेरा ध्यान ।
जो छोड़े इस देह को, परम गति तू जान ॥८-१३॥

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः ।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः ॥
विचलित ना होकर जपे, नियमित मेरा नाम ।
सुलभ पार्थ उसके लिये, मिलना मेरा काम ॥८-१४॥

मामुपेत्य पुनर्जन्म दुःखालयमशाश्वतम् ।
नाप्नुवन्ति महात्मानः संसिद्धिं परमां गताः ॥
पुनर्जन्म मिलता नहीं, मुझको जो ले पाय ।
परमगति उसको मिले, दुख सागर ना आय ॥८-१५॥

आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन ।
मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते ॥
ब्रह्म लोक तक दुख भरा, पुनर्जन्म का फेर ।
अर्जुन जो मुझमें मिले, नहीं जनम की टेर ॥८-१६॥

सहस्रयुगपर्यन्तमहर्यद्ब्रह्मणो विदुः ।
रात्रिं युगसहस्रान्तां तेऽहोरात्रविदो जनाः ॥
युग हज़ार संपूर्ण हो, ब्रह्म- दिवस इक जान ।
युग सहस्र यह रात भी, आयु ब्रह्म समान ॥८-१७॥

भूतग्रामः स एवायं भूत्वा भूत्वा प्रलीयते ।
रात्र्यागमेऽवशः पार्थ प्रभवत्यहरागमे ॥
दिन में सारे प्रकट है, रात पड़े मिट जात ।
जन्म मरण का खेल ये, पार्थ चले दिन रात ॥८-१८-१९॥

परस्तस्मात्तु भावोऽन्योऽव्यक्तोऽव्यक्तात्सनातनः ।
यः स सर्वेषु भूतेषु नश्यत्सु न विनश्यति ॥
परम प्रकृति रहे मगर, चले सनातन काल ।
जीव रहे या ना रहे, नष्ट न हो हर हाल ॥८-२०॥

अव्यक्तोऽक्षर इत्युक्तस्तमाहुः परमां गतिम् ।
यं प्राप्य न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम ॥
प्रकट न अविनाशी कहो, वो ही मेरा धाम ।
धाम मिले ऐसा जिसे, पुनर्जन्म नहीं काम ॥८-२१॥

पुरुषः स परः पार्थ भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया ।
यस्यान्तःस्थानि भूतानि येन सर्वमिदं ततम् ॥
मिले भक्ति से परम् पुरुष, पार्थ अनोखा जान ।
व्याप्त वही सर्वत्र है, सबकुछ उसका मान ॥८-२२॥

यत्र काले त्वनावृत्तिमावृत्तिं चैव योगिनः ।
प्रयाता यान्ति तं कालं वक्ष्यामि भरतर्षभ ॥
आने जाने का समय, योगी रखना ध्यान ।
भरतश्रेष्ठ तू समझ ले, कालचक्र को जान ॥८-२३॥

अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः षण्मासा उत्तरायणम् ।
तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदो जनाः ॥
शुक्लपक्ष के साथ छह, मासिक उत्तर होय ।
जो जाये इस काल में, ज्ञान ब्रह्म का होय ॥८-२४॥

धूमो रात्रिस्तथा कृष्णः षण्मासा दक्षिणायनम् ।
तत्र चान्द्रमसं ज्योतिर्योगी प्राप्य निवर्तते ॥
घुप्प अँधेरी रात हो, दक्षिण हो छह मास ।
चन्द्रलोक में वह गया, योगी न आये पास ॥८-२५॥

शुक्लकृष्णे गती ह्येते जगतः शाश्वते मते ।
एकया यात्यनावृत्तिमन्ययावर्तते पुनः ॥
गति जगत की दो सदा, अंधकार और ज्ञान ।
ज्ञान से जग मुक्ति मिले, रखना हरदम ध्यान ॥८-२६॥

नैते सृती पार्थ जानन्योगी मुह्यति कश्चन ।
तस्मात्सर्वेषु कालेषु योगयुक्तो भवार्जुन ॥
भक्त मार्ग जाने सभी, करें मोह का त्याग ।
हे अर्जुन योगी सदा, परम प्रभु का राग ॥८-२७॥

वेदेषु यज्ञेषु तपःसु चौव, दानेषु यत् पुण्यफलं प्रदिष्टम् ।
अत्येति तत्सर्वमिदं विदित्वा, योगी परं स्थानमुपैति चाद्यम् ॥
ज्ञान, यज्ञ, तप दान का, फल वंचित ना होय ।
राह भक्ति की जो चुने, परम धाम का होय ॥८-२८॥

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे
श्रीकृष्णार्जुनसंवादे अक्षरब्रह्मयोगो नामाष्टमोऽध्यायः ॥

॥ ॐ ॐ ॐ ॥

९. नवमोऽध्यायः राजविद्याराजगुह्ययोग ॐ

श्रीभगवानुवाच

इदं तु ते गुह्यतमं प्रवक्ष्याम्यनसूयवे ।
ज्ञानं विज्ञानसहितं यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात् ॥
दोषरहित तू भक्त है, गूढ़ समझ ले ज्ञान ।
मुक्ति पार्थ मिल जाएगी, जो तू इसको जान ॥९-१॥

राजविद्या राजगुह्यं पवित्रमिदमुत्तमम् ।
प्रत्यक्षावगमं धमर्यं सुसुखं कर्तुमव्ययम् ॥
विद्याओं का राजन है, पवित्र उत्तम ज्ञान ।
अनुभव का यह धर्म है, सुखकारी यह ज्ञान ॥९-२॥

अश्रद्दधानाः पुरुषा धर्मस्यास्य परन्तप ।
अप्राप्य मां निवर्तन्ते मृत्युसंसारवतर्मनि ॥
श्रद्धा, नहीं जब धर्म में, भक्त नहीं, हे वीर ।
मुझसे वो मिलते नहीं, बाँधे जग ज़ंजीर ॥९-३॥

मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना ।
मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः ॥
मेरे में ही व्याप्त है, सारा यह संसार ।
जीव सकल मुझ में बसे, मेरा ना आकार ॥९-४॥

न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वरम् ।
भूतभृन्न च भूतस्थो ममात्मा भूतभावनः ॥
मैं जीवों में हूँ नहीं, देखो रूप विराट ।
दिखता हूँ ना मैं कहीं, पर सबका सम्राट ॥९-५॥

यथाकाशस्थितो नित्यं वायुः सर्वत्रगो महान् ।
तथा सर्वाणि भूतानि मत्स्थानीत्युपधारय ॥
वायु सम आकाश में, बहती चारों ओर ।
जीव सभी मुझ में रहें, मेरा ओर न छोर ॥९-६॥

सर्वभूतानि कौन्तेय प्रकृतिं यान्ति मामिकाम् ।
कल्पक्षये पुनस्तानि कल्पादौ विसृजाम्यहम् ॥
अर्जुन मुझमें आन मिले, अंत समय जब आय ।
मैं फिर से रचना करूँ, सृष्टि फिर बन जाय ॥९-७॥

प्रकृतिं स्वामवष्टभ्य विसृजामि पुनः पुनः ।
भूतग्राममिमं कृत्स्नमवशं प्रकृतेर्वशात् ॥
मैं रचना का मूल हूँ, रचता बारम्बार ।
मैं चाहूँ तो जग रचूँ, चाहूँ तो संहार ॥९-८॥

न च मां तानि कर्माणि नबध्नन्ति धनंजय ।
उदासीनवदासीनमसक्तं तेषु कर्मसु ॥
कर्म न मुझको बाँध सके, सदा धनंजय जान ।
दृढ-मन से मैं वास करूँ, आसक्ति ना ध्यान ॥९-९॥

मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम् ।
हेतुनानेन कौन्तेय जगद्विपरिवर्तते ॥
चर अचर का मालिक मैं, अर्जुन तू पहचान ।
चलता सृष्टि चक्र सदा, मैं कारण तू जान ॥९-१०॥

अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम् ।
परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम् ॥
मूर्ख आम समझे मुझे, मानव तन को जान ।
दिव्य रुप समझे नहीं, परमेश्वर पहचान ॥९-११॥

मोघाशा मोघकर्माणो मोघज्ञाना विचेतसः ।
राक्षसीमासुरीं चौव प्रकृतिं मोहिनीं श्रिताः ॥
व्यर्थ कर्म आशा विफल, मोह बंधा अज्ञान ।
रहे आसुरी भावना, मोहित वे सब मान ॥९-१२॥

महात्मानस्तु मां पार्थ दैवीं प्रकृतिमाश्रिताः ।
भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम् ॥
हे अर्जुन जो महापुरुष, देव गुणी जो लोग ।
भक्ति भाव से जानते, सृष्टि मेरा यह योग ॥९-१३॥

सततं कीर्तयन्तो मां यतन्तश्च दृढव्रताः ।
नमस्यन्तश्च मां भक्त्या नित्ययुक्ता उपासते ॥
कीर्तन वे करते रहे, मन के साथ यथार्थ, ।
भक्तिभाव से नतमस्तक, पूजा करते पार्थ ॥९-१४॥

ज्ञानयज्ञेन चाप्यन्ये यजन्तो मामुपासते ।
एकत्वेन पृथक्त्वेन बहुधा विश्वतोमुखम् ॥
ज्ञानयोग में लगे रहे, पूजा करते लोग ।
रूप अनेक या एक हो, भजते जग में लोग ॥९-१५॥

अहं क्रतुरहं यज्ञः स्वधाहमहमौषधम् ।
मन्त्रोऽहमहमेवाज्यमहमग्निरहं हुतम् ॥
कर्मकांड में यज्ञ भी, मंत्र और घी साथ ।
अग्नि मैं आहुति मैं, तर्पण का मैं हाथ ॥९-१६॥

पिताहमस्य जगतो माता धाता पितामहः ।
वेद्यं पवित्रमोंकार ऋक्साम यजुरेव च ॥
मात पिता इस जगत के, मुझको सब कुछ मान ।
वेदों में मैं ही बसा, ओम मुझे तू जान ॥९-१७॥

गतिर्भर्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत् ।
प्रभवः प्रलयः स्थानं निधानं बीजमव्ययम् ॥
परमधाम स्वामी सकल, शरणागत का वास ।
प्रलय उदय का हेतु मैं, अमर बीज आवास ॥९-१८॥

तपाम्यहमहं वर्षं निगृह्णाम्युत्सृजामि च ।
अमृतं चैव मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन ॥
बारिश हो या ताप हो, मम अधीन तू जान ।
लेन देन जीवन सकल, सत्-असत्य का स्थान ॥९-१९॥

त्रैविद्या मां सोमपाः पूतपापा, यज्ञैरिष्ट्वा स्वर्गतिं प्रार्थयन्ते ।
ते पुण्यमासाद्य सुरेन्द्रलोक-मश्नन्ति दिव्यान्दिवि देवभोगान् ॥
त्रिवेदी पिएँ सोमरस, माँग स्वर्ग का धाम ।
इन्द्र लोक उनको मिले, देव मिले हर शाम ॥९-२०॥

ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं, क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति ।
एवं त्रयीधर्ममनुप्रपन्ना, गतागतं कामकामा लभन्ते ॥
इंद्र लोक को भोग कर, मृत्यु लोक की चाल ।
नहीं त्रिवेदी छूटते, जन्म मरण जंजाल ॥९-२१॥

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते ।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम् ॥
मुझको भाव अनन्य भजे, रखते मेरा ध्यान ।
रक्षा कर उस भक्त की, रखूँ सदा ही मान ॥९-२२॥

येऽप्यन्यदेवताभक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विताः ।
तेऽपि मामेव कौन्तेय यजन्त्यविधिपूर्वकम् ॥
पूजे दूजे देव को, श्रद्धा रखते ध्यान ।
दोषपूर्ण मुझको भजे, अर्जुन ऐसा जान ॥९-२३॥

अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च ।
न तु मामभिजानन्ति तत्त्वेनातश्च्यवन्ति ते ॥
मैं भगवन मैं ही भगत, सर्व यज्ञ में वास ।
इसे नही जो जानते, होता नीच प्रवास ॥९-२४॥

यान्ति देवव्रता देवान्पितॄन्यान्ति पितृव्रताः ।
भूतानि यान्ति भूतेज्या यान्ति मद्याजिनोऽपि माम् ॥

मिलें देव में देव भक्त, पितर भजें वो पाय ।
भूत जपते भूत मिलें, मुझमें भक्त समाय ॥९-२५॥

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति ।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः ॥

फूल पत्ती फल और जल, करे भक्ति से भेंट ।
भक्तिभाव स्वीकार करूँ, सरल आत्मा भेंट ॥९-२६॥

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत् ।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम् ॥

भोजन हो या कर्म हो, अर्पण हो या दान ।
अर्जुन जो भी तप करो, मेरा ही हो ध्यान ॥९-२७॥

शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैः ।
संन्यासयोगयुक्तात्मा विमुक्तो मामुपैष्यसि ॥

नष्ट हो फल अच्छा बुरा, कर्म मुक्त हो जाय ।
योग युक्त हो आत्मा, मुझ में आन समाय ॥९-२८॥

समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः ।
ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम् ॥

सदा रखूँ समभाव मैं, द्वेष न रखता राग ।
मुझमें बसता भक्त जो, मैं ही उसका भाग ॥९-२९॥

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक् ।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः ॥
काम शुभ-अशुभ जो करे, मन में मेरा भाव ।
साधु ऐसे हैं पुरुष, पूर्ण समर्पित भाव ॥९-३०॥

क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति ।
कौन्तेय प्रति जानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति ॥
धर्मपरायण शीघ्र बने, क्षुधा शांत हो जाय ।
हे अर्जुन सब जान ले, भक्ति भाव ना जाय ॥९-३१॥

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः ।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम् ॥
जो अर्जुन मेरी शरण, भले हो योनि पाप ।
शूद्र वैश्य नारी रहे, मिलता परम् प्रताप ॥९-३२॥

किं पुनर्ब्राह्मणाः पुण्या भक्ता राजर्षयस्तथा ।
अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम् ॥
हो ब्राह्मण धर्मात्मा, भक्त रहे मुनिराज ।
नाशवान इस लोक में, भज लो मुझको आज ॥९-३३॥

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु ।
मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः ॥
मन मे मुझको रख सदा, मेरा हो नवकार ।
पूर्ण लीन मन में रखे, मिले मुझे आकार ॥९-३४॥

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे
श्रीकृष्णार्जुनसंवादे राजविद्याराजगुह्ययोगो नाम नवमोऽध्यायः ॥

॥ ॐ ॐ ॐ ॥

१०. दशमोऽध्यायः विभूतियोग ॐ

श्रीभगवानुवाच

भूय एव महाबाहो शृणु मे परमं वचः ।
यत्तेऽहं प्रीयमाणाय वक्ष्यामि हितकाम्यया ॥
महाबली कहता तुम्हें, परम श्रेष्ठ यह ज्ञान ।
मान सखा तुझको कहूँ, तेरे हित का जान ॥१०-१॥

न मे विदुः सुरगणाः प्रभवं न महर्षयः ।
अहमादिर्हि देवानां महर्षीणां च सर्वशः ॥
देव मुझे जाने नहीं, जान ऋषि ना पाय ।
बने देव मुझसे यहाँ, ज्ञानी मुझसे आय ॥१०-२॥

यो मामजमनादिं च वेत्ति लोकमहेश्वरम् ।
असंमूढः स मतर्ूयेषु सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥
जन्म मरण से मुक्त मैं, ईश्वर हूँ सब लोक ।
मोह रहित जानो मुझे, नहीं मुक्ति इस लोक ॥१०-३॥

बुद्धिजर्ञानमसंमोहः क्षमा सत्यं दमः शमः ।
सुखं दुःखं भवोऽभावो भयो चाभयमेव च ॥
बुद्धि ज्ञान सत मोह क्षमा, तन मन मेरे काम ।
सुख दुख हो या जन्म मरण, भयो -अभय का धाम ॥१०-४॥

अहिंसा समता तुष्टिस्तपो दानं यशोऽयशः ।
भवन्ति भावा भूतानां मत्त एव पृथग्विधाः ॥
तपो-दया समता रहे, यश अपयश मैं जान ।
भाव जीव मुझसे बने, मुझ में हर गुण मान ॥१०-५॥

महर्षयः सप्त पूर्वे चत्वारो मनवस्तथा ।
मद्भावा मानसा जाता येषां लोक इमाः प्रजाः ॥
सात ऋषि प्राचीनतम, मनु गिनती में चार ।
सब मेरे मन से बने, जीव अनेक प्रकार ॥१०-६॥

एतां विभूतिं योगं च मम यो वेत्ति तत्त्वतः ।
सोऽविकम्पेन योगेन युज्यते नात्र संशयः ॥
जाने जो इस योग को, तत्व मेरा ये ज्ञान ।
भक्त वो मेरा ही बने, शंका तनिक न जान ॥१०-७॥

अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते ।
इति मत्वा भजन्ते मां बुधा भावसमन्विताः ॥
मैं सभी का परमपिता, मैं ही सबका बीज ।
जाने ऐसा जो भजे, माने मुझे अज़ीज़ ॥१०-८॥

मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम् ।
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च ॥
जो मन से मुझ में रमा, करता मेरी बात ।
खुश हो मेरी बात में, देखे सुखद प्रभात ॥१०-९॥

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम् ।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते ॥
लीन सदा मुझमें रहे, प्रेम भाव का ध्यान ।
बुद्धि योग देता उसे, पाता मुझको जान ॥१०-१०॥

तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः ।
नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता ॥
कृपा करूँ उन पर सदा, देकर ज्ञान प्रकाश ।
फैले तम अज्ञान का, कर देता हूँ नाश ॥१०-११॥

अर्जुन उवाच

परं ब्रह्म परं धाम पवित्रं परमं भवान् ।
पुरुषं शाश्वतं दिव्यमादिदेवमजं विभुम् ॥
परम् शुद्ध सत् आप हैं, आप परम आधार ।
आप नित्य ही दिव्य पुरुष, आप अजन्मे सार ॥१०-१२॥

आहुस्त्वामृषयः सर्वे देवर्षिर्नारदस्तथा ।
असितो देवलो व्यासः स्वयं चौव ब्रवीषि मे ॥
साधु सभी ऐसा कहें, नारद कहते बात ।
देवल, व्यास असित कहें, आप कहे जो बात ॥१०-१३॥

सर्वमेतकृतं मन्ये यन्मां वदसि केशव ।
न हि ते भगवन्व्यक्तिं विदुर्देवा न दानवाः ॥
हे केशव जो तू कहे, मुझको है स्वीकार ।
देव असुर न जान सके, तेरा यह आकार ॥१०-१४॥

स्वयमेवात्मनात्मानं वेत्थ त्वं पुरुषोत्तम ।
भूतभावन भूतेश देवदेव जगत्पते ॥
तू जाने निज आपको, तू ही है सिर मौर ।
तू ईश्वर तू ही जनक, जगत पिता हर तौर ॥१०-१५॥

वक्तुर्हस्यशेषेण दिव्या ह्यात्मविभूतयः ।
याभिर्विभूतिभिर्लोकानिमांस्त्वं व्याप्य तिष्ठसि ॥
ऐसे दिव्य स्वरूप को, आप कहें विस्तार ।
व्यापक ऐसा रूप है, है यह लोक अपार ॥१०-१६॥

कथं विद्यामहं योगिंस्त्वां सदा परिचिन्तयन् ।
केषु केषु च भावेषु चिन्त्योऽसि भगवन्मया ॥
कैसे जानूँ आपको, चिन्तन में भगवान ।
याद करूँ किस रूप को, दें मुझको पहचान ॥१०-१७॥

विस्तरेणात्मनो योगं विभूतिं च जनार्दन ।
भूयः कथय तृप्तिर्हि शृण्वतो नास्ति मेऽमृतम् ॥
तनिक जनार्दन तू बता, तेरा यह विस्तार ।
मन मेरा भरता नहीं, श्रवण करूँ कई बार ॥१०-१८॥

श्रीभगवानुवाच

हन्त ते कथयिष्यामि दिव्या ह्यात्मविभूतयः ।
प्राधान्यतः कुरुश्रेष्ठ नास्त्यन्तो विस्तरस्य मे ॥
कुरुश्रेष्ठ तुझसे कहूँ, मेरा रूप महान ।
ना सीमा इस रूप की, ले इतना तू जान ॥१०-१९॥

अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः ।
अहमादिश्च मध्यं च भूतानामन्त एव च ॥
हे ज्ञानी मैं आत्मा, सब जीवों में वास ।
आदि अंत मैं ही सुनो, मैं ही जीवन आस ॥१०-२०॥

आदित्यानामहं विष्णुर्ज्योतिषां रविरंशुमान् ।
मरीचिर्मरुतामस्मि नक्षत्राणामहं शशी ॥
मैं विष्णु हर सूर्य में, मैं हूँ सूर्य प्रकाश ।
वायु का मैं देवता, चंदा मैं आकाश ॥१०-२१॥

वेदानां सामवेदोऽस्मि देवानामस्मि वासवः ।
इन्द्रियाणां मनश्चामि भूतानामस्मि चेतना ॥
सामवेद हूँ वेद में, देवों पर है राज ।
इन्द्रियों का मानस मैं, जीवन की आवाज़ ॥१०-२२॥

रुद्राणां शंकरश्चास्मि वित्तेशो यक्षरक्षसाम् ।
वसूनां पावकश्चास्मि मेरुः शिखरिणामहम् ॥
सब रुद्रों का शिव बना, यक्षों का मैं देव ।
वसुओं में मैं अग्नि हूँ, पर्वत मेरु सदैव ॥१०-२३॥

पुरोधसां च मुख्यं मां विद्धि पार्थ बृहस्पतिम् ।
सेनानीनामहं स्कन्दः सरसामस्मि सागरः ॥
पुरोहितों में मुख्य हूँ, है वृहस्पति पहचान ।
कार्तिक सा सेना प्रमुख, जल में सागर जान ॥१०-२४॥

महर्षीणां भृगुरहं गिरामस्म्येकमक्षरम् ।
यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि स्थावराणां हिमालयः ॥
मैं ऋषियों में भृगु सदा, वाणी में ओंकार ।
कीर्तन हूँ मैं यज्ञ में, निश्चल हिम साकार ॥१०-२५॥

अश्वत्थः सर्ववृक्षाणां देवर्षीणां च नारदः ।
गन्धर्वाणां चित्ररथः सिद्धानां कपिलो मुनिः ॥
पेड़ों में पीपल सदा, नारद देव महान ।
गंधर्वों में चित्ररथ, कपिल सिद्ध हूँ मान ॥१०-२६॥

उच्चैःश्रवसमश्वानां विद्धि माममृतोद्भवम् ।
ऐरावतं गजेन्द्राणां नराणां च नराधिपम् ॥
घोड़ों में उच्चैश्रवा, अमृत मंथन मान ।
ऐरावत हाथी समझ, जन का राजा जान ॥१०-२७॥

आयुधानामहं वज्रं धेनूनामस्मि कामधुक् ।
प्रजनश्चास्मि कन्दर्पः सर्पाणामस्मि वासुकिः ॥
वज्र बना हथियार मैं, सुरभि धेनु पहचान ।
कामदेव उत्पत्ति का, सर्प वासुकि मान ॥१०-२८॥

अनन्तश्चास्मि नागानां वरुणो यादसामहम् ।
पितृणामर्यमा चास्मि यमः संयमतामहम् ॥
मैं हूँ नाग अनन्त भी, जलचर वरुणधिराज ।
पितृलोक मैं अर्यमा, नियमों का यमराज ॥१०-२९॥

प्रह्लादश्चास्मि दैत्यानां कालः कलयतामहम् ।
मृगाणां च मृगेन्द्रोऽहं वैनतेयश्च पक्षिणाम् ॥
दैत्यों में प्रह्लाद हूँ, दमन करूँ हर काल ।
हूँ पशुओं में सिंह मैं, गरुड़ पक्षी की चाल ॥१०-३०॥

पवनः पवतामस्मि रामः शस्त्रभृतामहम् ।
झषाणां मकरश्चास्मि स्रोतसामस्मि जाह्नवी ॥
मैं पवन अति पावन हूँ, शस्त्रधारी मैं राम, ।
मैं मछली, मैं हूँ मगर, नदिया गंगा नाम ॥१०-३१॥

सर्गाणामादिरन्तश्च मध्यं चैवाहमर्जुन ।
अध्यात्मविद्या विद्यानां वादः प्रवदतामहम् ॥
हे अर्जुन! मैं सृष्टि का, आदि मध्य और अंत्य ।
विद्या में आध्यात्म में, वाद में अंतिम सत्य ॥१०-३२॥

अक्षराणामकारोऽस्मि द्वन्द्वः सामासिकस्य च ।
अहमेवाक्षयः कालो धाताहं विश्वतोमुखः ॥
मैं पहला अक्षर बना, मैं ही द्वन्द समास ।
मैं ही अक्षय काल हूँ, ब्रह्म है मेरे ख़ास ॥१०-३३॥

मृत्युः सर्वहरश्चाहमुद्भवश्च भविष्यताम् ।
कीर्तिः श्रीर्वाक्च नारीणां स्मृतिर्मेधा धृतिः क्षमा ॥
नाश करे वह मौत हूँ, उद्भव संग प्रभाव ।
स्त्री रूप यश शब्द कहो, बुद्धि रखो समभाव ॥१०-३४॥

बृहत्साम तथा साम्नां गायत्री छन्दसामहम् ।
मासानां मार्गशीर्षोऽहमृतूनां कुसुमाकरः ॥
बृहत्साम हूँ गीत में, छंद गायत्री नाम ।
सारे ही ऋतुमास में, हूँ बसंत का धाम ॥१०-३५॥

द्यूतं छलयतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम् ।
जयोऽस्मि व्यवसायोऽस्मि सत्त्वं सत्त्ववतामहम् ॥
छलियों में मैं हूँ जुआ, तेजस का हूँ तेज ।
साहस हूँ मैं जय सदा, वीरों में बल तेज ॥१०-३६॥

वृष्णीनां वासुदेवोऽस्मि पाण्डवानां धनंजयः ।
मुनीनामप्यहं व्यासः कवीनामुशना कविः ॥
वासुदेव मैं वृष्णिवंश, अर्जुन पाण्डु जान ।
विद्वानों में व्यास मुनि, कविवर उशना मान ॥१०-३७॥

दण्डो दमयतामस्मि नीतिरस्मि जिगीषताम् ।
मौनं चैवास्मि गुह्यानां ज्ञानं ज्ञानवतामहम् ॥
दमन करें वह दण्ड हूँ, वीर नीति का मान ।
मैं रहस्य मैं मौन हूँ, मैं ज्ञानी का ज्ञान ॥१०-३८॥

यच्चापि सर्वभूतानां बीजं तदहमर्जुन ।
न तदस्ति विना यत्स्यान्मया भूतं चराचरम् ॥
हे अर्जुन मैं बीज हूँ, सृष्टि कारक मान ।
जीव भले हो चर अचर, मुझसे ही है जान ॥१०-३९॥

नान्तोऽस्ति मम दिव्यानां विभूतीनां परन्तप ।
एष तूद्देशतः प्रोक्तो विभूतेर्विस्तरो मया ॥
हे प्रणतप सीमा नहीं, मम ऐश्वर्य अनन्त ।
थोड़े में कह दूँ तुझे, विस्तृत का नही अंत ॥१०-४०॥

यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा ।
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसंभवम् ॥
मुझमे सब ऐश्वर्य है, सुंदर हूँ बलवान ।
सब कुछ मेरे तेज़ का, सब मुझ से है जान ॥१०-४१॥

अथवा बहुनैतेन किं ज्ञातेन तवार्जुन ।
विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत् ॥
तू क्यूँ चाहे जानना, हे अर्जुन क्या राज ।
धारण करता जगत को, अंश करे यह काज ॥१०-४२॥

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे ।
श्रीकृष्णार्जुनसंवादे विभूतियोगो नाम दशमोऽध्यायः ॥

॥ ॐ ॐ ॐ ॥

११. एकादशोऽध्यायः विश्वरूपदर्शनयोग ॐ

अर्जुन उवाच

मदनुग्रहाय परमं गुह्यमध्यात्मसंज्ञितम् ।
यत्त्वयोक्त वचस्तेन मोहोऽयं विगतो मम ॥
ज्ञान आपने जो दिया, है वो गूढ़ महान ।
भंग मोह मेरा हुआ, करता तेरा ध्यान ॥११-१॥

भवाप्ययौ हि भूतानां श्रुतौ विस्तरशो मया ।
त्वत्तः कमलपत्राक्ष माहात्म्यमपि चाव्ययम् ॥
बात सुनी हर जीव की, उद्गम का विस्तार ।
कमलनयन मैं धन्य हूँ, मिला आपका प्यार ॥११-२॥

एवमेतद्यथात्थ त्वमात्मानं पारमेश्वर ।
द्रष्टुमिच्छामि ते रूपमैश्वरं पुरुषोत्तम ॥
हे परमेश्वर जान लिया, तेरा रूप विराट ।
मगर आँख से देखना, चाहूँ हे सम्राट ॥११-३॥

मन्यसे यदि तच्छक्यं मया द्रष्टुमिति प्रभो ।
योगेश्वर ततो मे त्वं दर्शयात्मानमव्ययम् ॥
हे प्रभु तुझको जो लगे, नज़र मेरी ये ठीक ।
योगेश्वर मुझको दिखा, अपना रूप सटीक ॥११-४॥

श्रीभगवानुवाच

पश्य मे पार्थ रूपाणि शतशोऽथ सहस्रशः ।
नानाविधानि दिव्यानि नानावर्णाकृतीनि च ॥
पार्थ रूप देखो बड़ा, जिसके कोण हज़ार ।
दिव्य रूप जिसके कई, नाना रंग प्रकार ॥११-५॥

पश्यादित्यान्वसून्रुद्रानश्विनौ मरुतस्तथा ।
बहून्यदृष्टपूर्वाणि पश्याश्चर्याणि भारत ॥
देख वसु, आदित्य, मरुत, रुद्राश्वनि प्रत्येक ।
देखा ना पहले कभी, अद्‌भुत रूप अनेक ॥११-६॥

इहैकस्थं जगत्कृत्स्नं पश्याद्य सचराचरम् ।
मम देहे गुडाकेश यच्चान्यद् द्रष्टुमिच्छसि ॥
चर अचर ब्रह्माण्ड को, देख एक ही स्थान ।
पार्थ देख इस देह को, जो चाहे तू मान ॥११-७॥

न तु मां शक्यसे द्रष्टुमनेनैव स्वचक्षुषा ।
दिव्यं ददामि ते चक्षुः पश्य मे योगमैश्वरम् ॥
सक्षम तेरे चक्षु नहीं, देखे रूप विराट ।
दिव्य दृष्टि देता तुझे, देख तू मेरे ठाठ ॥११-८॥

संजय उवाच

एवमुक्त्वा ततो राजन्महायोगेश्वरो हरिः ।
दर्शयामास पार्थाय परमं रूपमैश्वरम् ॥
हे राजन कहकर यही, योगेश्वर भगवान ।
अर्जुन को दिखला दिया, अपना रूप महान ॥११-९॥

अनेकवक्त्रनयनमनेकाद्भुतदर्शनम् ।
अनेकदिव्याभरणं दिव्यानेकोद्यतायुधम् ॥
मुख अनेक, अतुलित नयन, अद्भुत है संसार ।
आभूषण भी हैं कई, हैं अनेक हथियार ॥११-१०॥

दिव्यमाल्याम्बरधरं दिव्यगन्धानुलेपनम् ।
सर्वाश्चर्यमयं देवमनन्तं विश्वतोमुखम् ॥
दिव्य माल वस्त्रादि धर, दिव्य सुगंधित लेप ।
तेज़ अनोखा प्रकट कर, विस्तृत ना संक्षेप ॥११-११॥

दिवि सूर्यसहस्रस्य भवेद्युगपदुत्थिता ।
यदि भाः स.शी सा स्याद्भासस्तस्य महात्मनः ॥
गगन हज़ारो सूर्य हैं, आलोकित आकाश ।
परम पुरुष ऐसा लगे, सूर्य असंख्य प्रकाश ॥११-१२॥

तत्रैकस्थं जगत्कृत्स्न प्रविभक्तमनेकधा ।
अपश्यद्देवदेवस्य शरीरे पाण्डवस्तदा ॥
विश्व विभक्त स्वरुप को, देखा एक ही स्थान ।
देख सका अर्जुन वहाँ, विश्व रूप भगवान ॥११-१३॥

ततः स विस्मयाविष्टो हृष्टरोमा धनंजयः ।
प्रणम्य शिरसा देवं .ताञ्जलिरभाषत ॥
पार्थ अचंभित हो गया, रोमांचित सम्मान ।
शीश झुका कर जोड़ के, कहे पार्थ भगवान ॥११-१४॥

अर्जुन उवाच

पश्यामि देवांस्तव देव देहे, सर्वांस्तथा भूतविशेषसंघान् ।
ब्रह्माणमीशं कमलासनस्थ-मृषींश्च सर्वानुरगांश्च दिव्यान् ॥
देख देव सब देह में, जीव विशेष अनेक ।
शिव ब्रह्मा बैठे कमल, ऋषि सह सर्प अनेक ॥११-१५॥

अनेकबाहूदरवक्त्रेत्रं पश्यामि त्वां सर्वतोऽनन्तरूपम् ।
नान्तं न मध्यं न पुनस्तवादिं पश्यामि विश्वेश्वर विश्वरूप ॥
भुजा नेत्र मुख हैं कई, दिखता रूप अंनत ।
आदि मध्य या अंत नहीं, जग के आप महंत ॥११-१६॥

किरीटिनं गदिनं चक्रिणं च, तेजोराशिं सर्वतो दीप्तिमन्तम् ।
पश्यामि त्वां दुर्निरीक्ष्यं समन्ता-द्दीप्तानलार्कद्युतिमप्रमेयम् ॥
मुकुट चक्र धारण गदा, चारों ओर प्रकाश ।
चकाचौंध सब कुछ हुआ, दिखे न भू आकाश ॥११-१७॥

त्वमक्षरं परमं वेदितव्यं, त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम् ।
त्वमव्ययः शाश्वतधर्मगोप्ता, सनातनस्त्वं पुरुषो मतो मे ॥
तुम अक्षर तुम ज्ञान परम, तुम हो जग आधार ।
तुम अविनाशी धर्मगुरू, तुम ही जग के सार ॥११-१८॥

अनादिमध्यान्तमनन्तवीर्य-मनन्तबाहुं शशिसूर्यनेत्रम् ।
पश्यामि त्वां दीप्तहुताशवक्त्रं स्वतेजसा विश्वमिदं तपन्तम् ॥
आदि मध्य या अंत नहीं, सूर्य व चन्द्र अनेक ।
सकल तेज़ है आपका, आप जगत अभिषेक ॥११-१९॥

द्यावापृथिव्योरिदमन्तरं हि, व्याप्तं त्वयैकेन दिशश्च सर्वाः ।
दृष्ट्वाद्भुतं रूपमुग्रं तवेदं, लोकत्रयं प्रव्यथितं महात्मन् ॥
पृथ्वी से आकाश तक, सभी दिशा ली जीत ।
उग्र आपका रूप प्रभु, तीन लोक भयभीत ॥११-२०॥

अमी हि त्वां सुरसंघा विशन्ति, केचिद्भीताः प्राञ्जलयो गृणन्ति ।
स्वस्तीत्युक्त्वा महर्षिसिद्धसंघाः, स्तुवन्ति त्वां स्तुतिभिः पुष्कलाभिः ॥
देव मिले सब आप में, करते सब गुणगान ।
कहें ऋषि कल्याण हो, जप जप तेरा गान ॥११-२१॥

रुद्रादित्या वसवो ये च साध्या, विश्वेऽश्विनौ मरुतश्चोष्मपाश्च ।
गन्धर्वयक्षासुरसिद्धसंघा, वीक्षन्ते त्वां विस्मिताश्चैव सर्वे ॥
वसवः शिव आदित्य खड़े, मरुत अश्विनी कुमार ।
सिद्ध यक्ष गन्धर्व असुर, विस्मित सभी अपार ॥११-२२॥

रूपं महत्ते बहुवक्त्रनेत्रं, महाबाहो बहुबाहूरुपादम् ।
बहूदरं बहुदंष्ट्राकरालं, दृष्ट्वा लोकाः प्रव्यथितास्तथाहम् ॥
मुख अनेक हैं चक्षु कई, महाबाहु पग पेट ।
दाँत भयंकर डर लगे, देखे जो आखेट ॥११-२३॥

नभःस्पृशं दीप्तमनेकवर्णं, व्यात्ताननं दीप्तविशालनेत्रम् ।
दृष्ट्वा हि त्वां प्रव्यथितान्तरात्मा, धृतिं न विन्दामि शमं च विष्णो ॥
नभ छूते दीपक कई, मुखड़ा नेत्र विशाल ।
डरती अन्दर आत्मा, धीरज खाये काल ॥११-२४॥

दंष्ट्राकरालानि च ते मुखानि, दृष्ट्वैव कालानलसन्निभानि ।
दिशो न जाने न लभे च शर्म, प्रसीद देवेश जगन्निवास ॥
दाँत भयंकर आपके, रूप दिखे विकराल ।
कृपा करो जगदीश तुम, डगमग मेरी चाल ॥११-२५॥

अमी च त्वां धृतराष्ट्रस्य पुत्राः सर्वे सहैवावनिपालसंघैः ।
भीष्मो द्रोणः सूतपुत्रस्तथासौ सहास्मदीयैरपि योधमुख्यैः ॥
धृतराष्ट्र के पुत्र सभी, समस्त राजा वीर ।
भीष्म द्रोण और कर्ण सह, अपने योद्धा वीर ॥११-२६॥

वक्त्राणि ते त्वरमाणा विशन्ति दंष्ट्राकरालानि भयानकानि ।
केचिद्विलग्ना दशनान्तरेषु संदृश्यन्ते चूर्णितैरुत्तमाङ्गैः ॥
तेज़ी से मुख जा रहे, लिये रूप विकराल ।
कुछ वे मुझको दिख रहे, चकनाचूर हलाल ॥११-२७॥

यथा नदीनां बहवोऽम्बुवेगाः समुद्रमेवाभिमुखा द्रवन्ति ।
तथा तवामी नरलोकवीरा विशन्ति ।
वक्त्राण्यभिविज्वलन्ति ॥
धार नदी जैसे बहे, सागर मुख को जाय ।
वीर लोक नर उस तरह, जलते मुख हो धाय ॥११-२८॥

यथा प्रदीप्तं ज्वलनं पतङ्गा विशन्ति नाशाय समृद्धवेगाः ।
तथैव नाशाय विशन्ति लोका- स्तवापि वक्त्राणि समृद्धवेगाः ॥
जले पतंगा अग्नि में, पूर्ण वेग हो नाश ।
सारे भीतर जा रहे, दर है खुला विनाश ॥११-२९॥

लेलिह्यसे ग्रसमानः समन्ता-ल्लोकान्समग्रान्वदनैर्ज्वलद्भिः ।
तेजोभिरापूर्य जगत्समग्रं भासस्तवोग्राः प्रतपन्ति विष्णो ॥
सब लोगों को खा रही, मुख में जलती आग ।
सर्व जगत को तपा रहा, विष्णु आग का नाग ॥११-३०॥

आख्याहि मे को भवानुग्ररूपो नमोऽस्तु ते देववर प्रसीद ।
विज्ञातुमिच्छामि भवन्तमाद्यं न हि प्रजानामि तव प्रवृत्तिम् ॥
कौन आप समझाइये, कृपा करें भगवान ।
मैं जिज्ञासु आप प्रभु, कैसे जानूँ शान ॥११-३१॥

श्रीभगवानुवाच

कालोऽस्मि लोकक्षयकृत्प्रवृद्धो लोकान्समाहर्तुमिह प्रवृत्तः ।
ऋतेऽपि त्वां न भविष्यन्ति सर्वे येऽवस्थिताः प्रत्यनीकेषु योधाः ॥
सकल जगत का काल मैं, करता सबका नाश ।
तू मारे या छोड़ दे, निश्चित सर्व विनाश ॥११-३२॥

तस्मात्त्वमुत्तिष्ठ यशो लभस्व जित्वा शत्रून् भुङ्क्ष्व राज्यं समृद्धम् ।
मयैवैते निहताः पूर्वमेव निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन् ॥
उठो प्राप्त यश तुम करो, जीत शत्रु कर भोग ।
पहले ही मारे गये, निमित्त तेरा योग ॥११-३३॥

द्रोणं च भीष्मं च जयद्रथं च कर्णं तथान्यानपि योधवीरान् ।
मया हतांस्त्वं जहि मा व्यथिष्ठा युध्यस्व जेतासि रणे सपत्नान् ॥
द्रोण भीष्म जयद्रथ रहे, कर्ण कोई भी वीर ।
मत करना संकोच तू, जीते तेरा तीर ॥११-३४॥

संजय उवाच

एतच्छ्रुत्वा वचनं केशवस्य .ताञ्जलिर्वेपमानः किरीटी ।
नमस्कृत्वा भूय एवाह कृष्णं सगद्गदं भीतभीतः प्रणम्य ।।

सुनकर केशव के वचन, अर्जुन जोड़े हाथ ।
नमस्कार माधव करूँ, डर डर काँपे हाथ ।।११-३५।।

अर्जुन उवाच

स्थाने हृषीकेश तव प्रकीतर्‌या जगत्प्रहृष्यत्यनुरज्यते च ।
रक्षांसि भीतानि दिशो द्रवन्ति सर्वे नमस्यन्ति च सिद्धसंघाः ।।

केशव कीर्ति आपकी, सुखी सकल संसार ।
असुर सभी भयभीत हो, सिद्ध खड़े हैं द्वार ।।११-३६।।

कस्माच्च ते न नमेरन्महात्मन् गरीयसे ब्रह्मणोऽप्यादिकर्ते ।
अनन्त देवेश जगन्निवास त्वमक्षरं सदसत्तत्परं यत् ।।

नमस्कार क्यों ना करूँ, ब्रह्म स्वरूप महान ।
जगनिवास देवेश हो, परमसत्य सम ज्ञान ।।११-३७।।

त्वमादिदेवः पुरुषः पुराण-स्त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम् ।
वेत्तासि वेद्यं च परं च धाम त्वया ततं विश्वमनन्तरूप ।।

आदि देव हो पुरुषोत्तम, आप जगत के धाम ।
ज्ञान परम भी आप ही, अनन्त रूप अरु नाम ।।११-३८।।

वायुर्यमोऽग्निर्वरुणः शशाङ्कः प्रजापतिस्त्वं प्रपितामहश्च ।
नमो नमस्तेऽस्तु सहस्र.त्वः पुनश्च भूयोऽपि नमो नमस्ते ।।

वायु अग्नि जल चंद्रमा, ब्रह्मपिता भी आप ।
करूँ हज़ारों नमन तुम्हें, सतत करूँ त्वम् जाप ।।११-३९।।

नमः पुरस्तादथ पृष्ठतस्ते नमोऽस्तु ते सर्वत एव सर्व ।
अनन्तवीर्यामितविक्रमस्त्वं सर्वं समाप्नोषि ततोऽसि सर्वः ॥

सभी दिशा से नमन करूँ, नित नित बारम्बार ।
बल पौरुष सीमा नहीं, छाई शक्ति अपार ॥११-४०॥

सखेति मत्वा प्रसभं यदुक्त हे कृष्ण हे यादव हे सखेति ।
अजानता महिमानं तवेदं मया प्रमादात्प्रणयेन वापि ॥

हरे कृष्ण, यादव, सखा, प्रभु क्षमा का दान ।
कथन यदि अनुचित कहा, मित्र आपको मान ॥११-४१॥

यच्चावहासार्थमसत्कृतोऽसि विहारशय्यासनभोजनेषु ।
एकोऽथवाप्यच्युत तत्समक्षं तत्क्षामये त्वामहमप्रमेयम् ॥

बैठ-लेट, भोजन समय, खूब किये उपहास ।
एकाकी या भीड़ में, रखूँ क्षमा की आस ॥११-४२॥

पितासि लोकस्य चराचरस्य त्वमस्य पूज्यश्च गुरुर्गरीयान् ।
न त्वत्समोऽस्त्यभ्यधिकः कुतोऽन्यो लोकत्रयेऽप्यप्रतिमप्रभाव ॥

लोक पिता तुम चरअचर, गुरुवर पूज्य महान ।
आप तुल्य कोई नहीं, तीन लोक की शान ॥११-४३॥

तस्मात्प्रणम्य प्रणिधाय कायं प्रसादये त्वामहमीशमीड्यम् ।
पितेव पुत्रस्य सखेव सख्युः प्रियः प्रियायार्हसि देव सोढुम् ॥

नमन करूँ मैं सर झुका, कृपा करो भगवान ।
पिता, सखा, प्रेमी समझ, सहे त्रुटि सम जान ॥११-४४॥

अदृष्टपूर्वं हृषितोऽस्मि दृष्ट्वा भयेन च प्रव्यथितं मनो मे ।
तदेव मे दर्शय देव रूपं प्रसीद देवेश जगन्निवास ॥
रूप देख मैं खुश हुआ, मन में हूँ भयभीत ।
देव रूप तुम फिर बनो, मन भावन जगमीत ॥११-४५॥

किरीटिनं गदिनं चक्रहस्त-मिच्छामि त्वां द्रष्टुमहं तथैव ।
तेनैव रूपेण चतुर्भुजेन सहस्रबाहो भव विश्वमूर्ते ॥
मुकुट चक्र धारण गदा, चतुर्भुजा सा ठाट ।
चाहूँ दर्शन हे प्रभु, भुजा सहस्त्र विराट ॥११-४६॥

श्रीभगवानुवाच

मया प्रसन्नेन तवार्जुनेदं रूपं परं दर्शितमात्मयोगात् ।
तेजोमयं विश्वमनन्तमाद्यं यन्मे त्वदन्येन न दृष्टपूर्वम् ॥
हे अर्जुन भगवन कहे, होकर प्रकट विराट ।
तेजोमय ब्रह्माण्ड अनन्त, कहीं न कोई ठाट ॥११-४७॥

न वेदयज्ञाध्ययनैर्न दानै-न च क्रियाभिर्न तपोभिरुग्रैः ।
एवंरूपः शक्य अहं नृलोके द्रष्टुं त्वदन्येन कुरुप्रवीर ॥
ज्ञान यज्ञ ना दान से, नही तपस्या घोर ।
तुझको ही मैं दिख रहा, दिखूँ न मैं हर ओर ॥११-४८॥

मा ते व्यथा मा च विमूढभावो दृष्ट्वा रूपं घोरमीदृङ्ममेदम् ।
व्यपेतभीः प्रीतमनाः पुनस्त्वं तदेव मे रूपमिदं प्रपश्य ॥
कष्ट मोह कुछ ना रहे, रूप भयानक देख ।
आनंदित भयमुक्त हो, पुनः रूप यह देख ॥११-४९॥

संजय उवाच

इत्यर्जुनं वासुदेवस्तथोक्त्वा स्वकं रूपं दर्शयामास भूयः ।
आश्वासयामास च भीतमेनं भूत्वा पुनः सौम्यवपुर्महात्मा ॥
वासुदेव ने अर्जुन को, फिर दिखलाया रूप ।
धीर मिला भय मिट गया, सुन्दर प्रकट स्वरूप ॥११-५०॥

अर्जुन उवाच

दृष्ट्वेदं मानुषं रूपं तव सौम्यं जनार्दन ।
इदानीमस्मि संवृत्तः सचेताः प्रकृतिं गतः ॥
देख रूप मनु आपका, केशव सुन्दर आप ।
चित्त शांत मेरा हुआ, दूर हुआ संताप ॥११-५१॥

श्रीभगवानुवाच

सुदुर्दर्शमिदं रूपं दृष्टवानसि यन्मम ।
देवा अप्यस्य रूपस्य नित्यं दर्शनकाङ्क्षिणः ॥
दुर्लभ मेरा रूप है, देख सके ओ मीत ।
दर्शन चाहें देव भी, तुम तो हो मनमीत ॥११-५२॥

नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया ।
शक्य एवंविधो द्रष्टुं दृष्टवानसि मां यथा ॥
नहीं ज्ञान तप से नहीं, ना पूजा ना दान ।
मुझे न कोई देख सके, मिला तुम्हें सम्मान ॥११-५३॥

भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन ।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप ॥
भक्ति भाव अनन्य से, दर्शन संभव होत ।
हे अर्जुन तुम जान सके, शत-शत मेरे स्रोत ॥११-५४॥

मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः सङ्गवर्जितः ।
निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव ॥
कर्म मुक्त सह काम हो, भक्ति में रम जाय ।
मित्र बने हर जीव का, वो ही मुझको पाय ॥११-५५॥

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे
श्रीकृष्णार्जुनसंवादे विश्वरूपदर्शनयोगो नामैकादशोऽध्यायः ॥

॥ ॐ ॐ ॐ ॥

१२. द्वादशोऽध्यायः भक्तियोग ॐ

अर्जुन उवाच

एवं सततयुक्ता ये भक्तास्त्वां पर्युपासते ।
ये चाप्यक्षरमव्यक्तं तेषां के योगवित्तमाः ॥
परम भक्त जो आपका, करता पूजा काम ।
रमा रहे परब्रह्म में, कौन है उत्तम श्याम ॥१२-१॥

श्रीभगवानुवाच

मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते ।
श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः ॥
स्थिर मन मुझ में करें, नियमित मेरा ध्यान ।
श्रद्धा से मुझ में रहे, उत्तम योगी जान ॥१२-२॥

ये त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्त पर्युपासते ।
सर्वत्रगमचिन्त्यं च कूटस्थमचलं ध्रुवम् ॥
इन्द्रियाँ अनुभूत परे, है अव्यक्त का ध्यान ।
पूजनीय सर्वत्र सुगम, अचल ये निश्चित जान ॥१२-३॥

संनियम्येन्द्रियग्रामं सर्वत्र समबुद्धयः ।
ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः ॥
वश में करके इन्द्रियाँ, समदर्शी सब होय ।
वो भी मुझमें आ मिले, सब जीवों को सोय ॥१२-४॥

क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम् ।
अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते ॥
निराकार का मोह जो, कठिन मार्ग तू जान ।
ध्यान अव्यक्त कठोर है, रहे देह में जान ॥१२-५॥

ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः ।
अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते ॥
सब कर्मों को त्याग के, केवल मेरा ध्यान ।
भक्तियोग में रमा रहे, मेरा रखता मान ॥१२-६॥

तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात् ।
भवामि नचिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम् ॥
मै उसका उद्धार करूँ, यह मृत्यु संसार ।
दीर्घकाल के बाद भी, करता बेड़ा पार ॥१२-७॥

मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय ।
निवसिष्यसि मय्येव अत ऊधर्वं न संशयः ॥
करो स्थिर मन में मुझे, कर लो बुद्धि निवेश ।
संशय मन में ना रहे, मुझमें करो प्रवेश ॥१२-८॥

अथ चित्तं समाधातुं न शक्नोषि मयि स्थिरम् ।
अभ्यासयोगेन ततो मामिच्छाप्तुं धनंजय ॥
चित्त न संयत कर सके, हो ना अविचल भाव ।
भक्तियोग अभ्यास करो, रखकर मन मम भाव ॥१२-९॥

अभ्यासेऽप्यसमर्थोऽसि मत्कर्मपरमो भव ।
मदर्थमपि कर्माणि कुर्वन्सिद्धिमवाप्स्यसि ॥

भक्तियोग ना कर सके, कर्म हो अर्पित मोय ।
किया कर्म मेरे लिये, सिद्धि उसको होय ॥१२-१०॥

अथैतदप्यशक्तोऽसि कर्तुं मद्योगमाश्रितः ।
सर्वकर्मफलत्यागं ततः कुरु यतात्मवान् ॥

कर्म न अर्पित कर सके, लगे न कोई ध्यान ।
सर्व कर्म फल त्याग दे, मिले आत्म का ज्ञान ॥१२-११॥

श्रेयो हि ज्ञानमभ्यासाज्ज्ञानाद्ध्यानं विशिष्यते ।
ध्यानात्कर्मफलत्यागस्त्यागाच्छान्तिरनन्तरम् ॥

ज्ञान मार्ग उत्तम रहे, ज्ञान से उत्तम ध्यान ।
श्रेष्ठ कर्म फल त्याग है, शान्ति का हो भान ॥१२-१२॥

अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च ।
निर्ममो निरहंकारः समदुःखसुखः क्षमी ॥

मित्र भाव में द्वेष न हो, करुणा का संचार ।
सुख-दुख में समभाव हो, मोह न दर्प हज़ार ॥१२-१३॥

संतुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढनिश्चयः ।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मद्भक्तः स मे प्रियः ॥

संतोषी हरदम रहे, संकल्पित भगवान ।
मन बुद्धि अर्पित मुझे, भक्त वह मेरा जान ॥१२-१४॥

यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः ।
हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्तो यः स च मे प्रियः ॥
विचलित लोक करे नहीं, विचलित कभी न होय ।
सुख-दुख भय चिन्ता नहीं, प्रिय वह मुझको होय ॥१२-१५॥

अनपेक्षः शुचिर्दक्ष उदासीनो गतव्यथः ।
सर्वारम्भपरित्यागी यो मद्भक्तः स मे प्रियः ॥
शुद्ध, दक्ष, इच्छा नहीं, कष्ट न चिन्ता भान ।
रहे कर्म फल त्याग कर, भक्त है मेरा मान ॥१२-१६॥

यो न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न काङ्क्षति ।
शुभाशुभपरित्यागी भक्तिमान्यः स मे प्रियः ॥
शोक हर्ष करता नहीं, ना इच्छा ना काम ।
शुभ अशुभ जो त्याग दे, भक्त वही है श्याम ॥१२-१७॥

समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः ।
शीतोष्णसुखदुःखेषु समः सङ्गविवर्जितः ॥
शत्रु मित्र सम ही रहे, मान रहे अपमान ।
गर्मी सर्दी सुख दुख हो, संगति भाव समान ॥१२-१८॥

तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी सन्तुष्टो येन केनचित् ।
अनिकेतः स्थिरमतिर्भक्तिमान्मे प्रियो नरः ॥
यश-अपयश में मौन हो, संतोषी हर हाल ।
घर-बार परवाह नहीं, भक्त वही हर काल ॥१२-१९॥

ये तु धमर्यामृतमिदं यथोक्त पर्युपासते ।
श्रध्दाना मत्परमा भक्तास्तेऽतीव मे प्रियाः ॥

धर्म अमर पथ पर रहे, हर पल मुझमें वास ।
श्रद्धा से मुझमें बसे, परम भक्त वह ख़ास ॥१२-२०॥

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे
श्रीकृष्णार्जुनसंवादे भक्तियोगो नाम द्वादशोऽध्यायः ॥

॥ ॐ ॐ ॐ ॥

१३. त्रयोदशोऽध्यायः क्षेत्र-क्षेत्रज्ञविभाग ॐ

अर्जुन उवाच

प्रकृतिं पुरुषं चैव क्षेत्रं क्षेत्रज्ञमेव च ।
एतद्वेदितुमिच्छामि ज्ञानं ज्ञेयं च केशव ॥
यह निसर्ग उपभोक्ता, यह शरीर ओ बैद ।
इच्छुक हूँ केशव बता, ज्ञान श्रेय का भेद ॥१३-१॥

श्रीभगवानुवाच

इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते ।
एतद्यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः ॥
हे अर्जुन यह जान ले, तन क्षेत्र कहलाय ।
इस तन को जो जान ले, क्षेत्रज्ञ बन जाय ॥१३-२॥

क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत ।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्ज्ञानं यत्तज्ज्ञानं मतं मम ॥
हे अर्जुन हर जीव का, रखता मैं सब ध्यान ।
क्षेत्र क्षेत्रज्ञ जान ले, कहलाता ये ज्ञान ॥१३-३॥

तत्क्षेत्रं यच्च यादृक्च यद्विकारि यतश्च यत् ।
स च यो यत्प्रभावश्च तत्समासेन मे शृणु ॥
सार तुम मुझसे सुनो, कर्म क्षेत्र का राज ।
क्यों बनता बदलाव क्यों, किसका है यह काज ॥१३-४॥

ऋषिभिर्बहुधा गीतं छन्दोभिर्विविधैः पृथक् ।
ब्रह्मसूत्रपदैश्चैव हेतुमद्भिर्विनिश्चितैः ॥
ज्ञानी लोग अनेक कहे, भिन्न तरह से वेद ।
ब्रह्मसूत्र के वचन से, जान सके सब भेद ॥१३-५॥

महाभूतान्यहंकारो बुद्धिरव्यक्तमेव च ।
इन्द्रियाणि दशैकं च पञ्च चेन्द्रियगोचराः ॥
पाँचभूत व तीन गुणी, बुद्धि अहम अपार ।
मन के संग दस इंद्रियाँ, पाँच विषय के द्वार ॥१३-६॥

इच्छा द्वेषः सुखं दुःखं संघातश्चेतना धृतिः ।
एतत्क्षेत्रं समासेन सविकारमुदाहृतम् ॥
इच्छा सुख दुख द्वेष भी, चित्त धैर्य को जान ।
कर्म क्षेत्र ही सार है, यही क्षेत्र का ज्ञान ॥१३-७॥

अमानित्वमदम्भित्वमहिंसा क्षान्तिरार्जवम् ।
आचार्योपासनं शौचं स्थैर्यमात्मविनिग्रहः ॥
नम्र अहिंसक दंभहीन, सहज सबल संग शील ।
गुरु संगत भी हो पवित्र, स्थिर हो संयमशील ॥१३-८॥

इन्द्रियार्थेषु वैराग्यमनहंकार एव च ।
जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम् ॥
इंद्रियों से बैरागी, अहंकार ना द्वार ।
रोग बुढ़ापा जन्म मरण, हो अनुभूति विकार ॥१३-९॥

असक्तिरनभिष्वङ्गः पुत्रदारगृहादिषु ।
नित्यं च समचित्तत्वमिष्टानिष्टोपपत्तिषु ॥

नहीं रखे आसक्ति जो, घर औरत संतान ।
रहती है सम भावना, भला बुरा ना भान ॥१३-१०॥

मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी ।
विविक्तिदेशसेवित्वमरतिर्जनसंसदि ॥

मुझमें भक्ति हो अनन्य, बिना किसी व्यवधान ।
रमा रहे एकांत में, नहीं भीड़ का ध्यान ॥१३-११॥

अध्यात्मज्ञाननित्यत्वं तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम् ।
एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तमज्ञानं यदतोऽन्यथा ॥

आत्मज्ञान के साथ ही, दर्शन सत सज्ञान ।
ज्ञान कहाते ये सभी, बाकी सब अज्ञान ॥१३-१२॥

ज्ञेयं यत्तत्प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वामृतमश्नुते ।
अनादि मत्परं ब्रह्म न सत्तन्नासदुच्यते ॥

सदा योग्य ही जानना, अमृत सा है सार ।
मुझसे ब्रम्ह अनादि है, सत् ना असत विचार ॥१३-१३॥

सर्वतः पाणिपाद ं तत्सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम् ।
सर्वतः श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति ॥

हाथ पाँव सिर आँख मुँह, फैले-फैले कान ।
बसे परम संसार में, व्याप्त सभी में जान ॥१३-१४॥

सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम् ।
असक्त सर्वभृच्चौव निर्गुणं गुणभोक्तृ च ॥
मूल इन्द्रियों का वही, इन्द्रिय रहे विहीन ।
सभी गुणों को साथ रख, मगर रहे गुणहीन ॥१३-१५॥

बहिरन्तश्च भूतानामचरं चरमेव च ।
सूक्ष्मत्वात्तदविज्ञेयं दूरस्थं चान्तिके च तत् ॥
बाहर भीतर वह बसे, हो वह जीव अजीव ।
देख न पाए सूक्ष्म को, दूर मगर सह जीव ॥१३-१६॥

अविभक्त च भूतेषु विभक्तमिव च स्थितम् ।
भूतभर्तृ च तज्ज्ञेयं ग्रसिष्णु प्रभविष्णु च ॥
बँटा नही फैला हुआ, विद्यमान हर ओर ।
पालन भी संहार भी, उसके कार्य कठोर ॥१३-१७॥

ज्योतिषामपि तज्ज्योतिस्तमसः परमुच्यते ।
ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यं हृदि सर्वस्य विष्ठितम् ॥
हर ज्योति की ज्योत वही, नहीं तमस का नाम ।
ज्ञानी भी वह ज्ञान भी, कण-कण उसका धाम ॥१३-१८॥

इति क्षेत्रं तथा ज्ञानं ज्ञेयं चोक्त समासतः ।
मद्भक्त एतद्विज्ञाय मद्भावायोपपद्यते ॥
क्षेत्र ज्ञान व ज्ञेय का, तुझे कहा है सार ।
भक्त मेरा ही जान सके, पा ले मुझको पार ॥१३-१९॥

प्रकृतिं पुरुषं चौव विद्ध्यनादी उभावपि ।
विकारांश्च गुणांश्चैव विद्धि प्रकृतिसंभवान् ॥
प्रकृति हो या जीव हो, रहते अनादि काल ।
हो विकार या त्रिगुणामय, प्रकृति काज कमाल ॥१३-२०॥

कार्यकरणकर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते ।
पुरुषः सुखदुःखानां भोत्कृत्वे हेतुरुच्यते ॥
कारण सह परिणाम है, इस निसर्ग का नाम ।
सुख दुख को है भोगना, जीव आत्म का काम ॥१३-२१॥

पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृतिजान्गुणान् ।
कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु ॥
जीव जग में वास करे, भोगे गुण परिणाम ।
प्रकृति संग कारण बने, भिन्न योनि परिणाम ॥१३-२२॥

उपद्रष्टानुमन्ता च भर्ता भोक्ता महेश्वरः ।
परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन्पुरुषः परः ॥
साक्षी बन सूचित करे, ईश्वर सा है काम ।
परमात्मा सब में बसे, दिव्य पुरुष में धाम ॥१३-२३॥

य एवं वेत्ति पुरुषं प्रकृतिं च गुणैः सह ।
सर्वथा वर्तमानोऽपि न स भूयोऽभिजायते ॥
जो समझे जीवन जगत, रखे गुणों का भान ।
वर्तमान जैसा रहे, मिले मुक्ति सम्मान ॥१३-२४॥

ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति केचिदात्मानमात्मना ।
अन्ये सांख्येन योगेन कर्मयोगेन चापरे ॥
तनिक देखते ध्यान से, बसते मन भगवान ।
तो कुछ जाने ज्ञान से, कर कुछ कर्म महान ॥१३-२५॥

अन्ये त्वेवमजानन्तः श्रुत्वान्येभ्य उपासते ।
तेऽपि चातितरन्त्येव मृत्युं श्रुतिपरायणाः ॥
आत्मज्ञान से कुछ रहित, सुन पूजे भगवान ।
वो भी भव सागर तरे, सुन कर प्रभु की तान ॥१३-२६॥

यावत्संजायते किंचित्सत्त्वं स्थावरजङ्गमम् ।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञसंयोगात्तद्विद्धि भरतर्षभ ॥
उपजे जो भी जगत में, जीव हो या अजीव ।
संयोग क्षेत्र क्षेत्रज्ञ का, समझो तुम गांडीव ॥१३-२७॥

समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम् ।
विनश्यत्स्वविनश्यन्तं यः पश्यति स पश्यति ॥
सभी जीव सम भाव हो, परम आत्म का वास ।
नाशवान व नाशरहित, देख सके वो ख़ास ॥१३-२८॥

समं पश्यन्हि सर्वत्र समवस्थितमीश्वरम् ।
न हिनस्त्यात्मनात्मानं ततो याति परां गतिम् ॥
देखे सब समभाव से, ईश्वर सदा सजीव ।
हीन भाव रखता नहीं, पार लगे वह जीव ॥१३-२९॥

प्रकृत्यैव च कर्माणि क्रियमाणानि सर्वशः ।
यः पश्यति तथात्मानमकर्तारं स पश्यति ॥
प्रकृति ही सब कुछ करे, जितने भी है काम ।
आत्मा तो बस देखती, करते अपने राम ॥१३-३०॥

यदा भूतपृथग्भावमेकस्थमनुपश्यति ।
तत एव च विस्तारं ब्रह्म संपद्यते तदा ॥
रूप अनेकों जीव के, देखे जो सम भाव ।
समझे जो विस्तार को, समझे ब्रह्म स्वभाव ॥१३-३१॥

अनादित्वान्निर्गुणत्वात्परमात्मायमव्ययः ।
शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते ॥
नित्य ये निर्गुण आत्मा, अविनाशी निष्काम ।
हे पार्थ हर जीव बसे, लिप्त ना रहते काम ॥१३-३२॥

यथा सर्वगतं सौक्ष्म्यादाकाशं नोपलिप्यते ।
सर्वत्रावस्थितो देहे तथात्मा नोपलिप्यते ॥
सर्वव्यापी सूक्ष्म भी, अलिप्त यह आकाश ।
लिप्त आत्मा भी नहीं, जैसे जीव में श्वास ॥१३-३३॥

यथा प्रकाशयत्येकः कृत्स्न लोकमिमं रविः ।
क्षेत्रं क्षेत्री तथा कृत्स्न प्रकाशयति भारत ॥
आलोकित यह लोक है, जैसे सूर्य कमाल ।
हे अर्जुन आत्मा बने, जीवन की हर चाल ॥१३-३४॥

क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोरेवमन्तरं ज्ञानचक्षुषा ।
भूतप्रकृतिमोक्षं च ये विदुर्यान्ति ते परम् ॥
ज्ञानचक्षु से देख ले, जीव आत्म का भेद ।
मोक्ष मार्ग वह जान ले, मिल जाए सब वेद ॥१३-३५॥

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे ।
श्रीकृष्णार्जुनसंवादे क्षेत्रक्षेत्रज्ञविभागयोगो नाम त्रयोदशोऽध्यायः ॥

॥ ॐ ॐ ॐ ॥

१४. चतुर्दशोऽध्यायः गुणत्रयविभागयोग ॐ

श्रीभगवानुवाच

परं भूयः प्रवक्ष्यामि ज्ञानानां ज्ञानमुत्तमम् ।
यज्ज्ञात्वा मुनयः सर्वे परां सिद्धिमितो गताः ॥
दिव्य ज्ञान को फिर कहूँ, सर्वश्रेष्ठ यह जान ।
जाना मुनियों ने जिसे, मिलीं सिद्धियाँ आन ॥१४-१॥

इदं ज्ञानमुपाश्रित्य मम साधमर्यमागताः ।
सर्गेऽपि नोपजायन्ते प्रलये न व्यथन्ति च ॥
सदा रहे इस ज्ञान में, पाये मेरा भाव ।
फिर ना लेवे जन्म वह, प्रलय न करे प्रभाव ॥१४-२॥

मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन्गर्भं दधाम्यहम् ।
संभवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत ॥
गर्भ बसे मेरे जगत, ब्रह्म योनि हर जीव ।
जन्में मुझसे भूत भी, मुझसे जीव अजीव ॥१४-३॥

सर्वयोनिषु कौन्तेय मूर्तयः संभवन्ति याः ।
तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रदः पिता ॥
हे अर्जुन सब योनियाँ, रूप तू संभव जान ।
सबका मैं ही जन्म पिता, मेरे बीज महान ॥१४-४॥

सत्त्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृतिसंभवाः ।
निबध्नन्ति महाबाहो देहे देहिनमव्ययम् ॥
सत रज तम गुण से बना, है ये जगत तमाम ।
गुण बाँधे हर जीव को, अर्जुन मेरा काम ॥१४-५॥

तत्र सत्त्वं निर्मलत्वात्प्रकाशकमनामयम् ।
सुखसङ्गेन बध्नाति ज्ञानसङ्गेन चानघ ॥
शुद्धता प्रकाश भरा, सत गुण में ना पाप ।
मिले ज्ञान भरपूर सुख, सत का करते जाप ॥१४-६॥

रजो रागात्मकं विद्धि तृष्णासङ्गसमुद्भवम् ।
तन्निबध्नाति कौन्तेय कर्मसङ्गेन देहिनम् ॥
राग रजों गुण में भरा, तृष्णा का संचार ।
बँधा रहे वह कर्म से, अर्जुन जन्म हज़ार ॥१४-७॥

तमस्त्वज्ञानजं विद्धि मोहनं सर्वदेहिनाम् ।
प्रमादालस्यनिद्राभिस्तन्निबध्नाति भारत ॥
तमगुण यह अज्ञान से, मोह बाँधता जीव ।
मद आलस निद्रा बढ़े, सदा जकड़ता जीव ॥१४-८॥

सत्त्वं सुखे संजयति रजः कर्मणि भारत ।
ज्ञानमावृत्य तु तमः प्रमादे संजयत्युत ॥
सत गुण सुख को बाँधता, कर्म रहे रज साथ ।
तम ढकता है ज्ञान को, मद से बँधते हाथ ॥१४-९॥

रजस्तमश्चाभिभूय सत्त्वं भवति भारत ।
रजः सत्त्वं तमश्चैव तमः सत्त्वं रजस्तथा ॥
रजगुण तम संहार करे, हो सत कभी प्रधान ।
रज तम सत लड़ते रहे, ऐसा पार्थ विधान ॥१४-१०॥

सर्वद्वारेषु देहेऽस्मिन्प्रकाश उपजायते ।
ज्ञानं यदा तदा विद्याद्विवृद्धं सत्त्वमित्युत ॥
द्वार समस्त शरीर के, होत प्रकाशित जान ।
सत्गुण मानो बढ़ गया, ज्ञान और विज्ञान ॥१४-११॥

लोभः प्रवृत्तिरारम्भः कर्मणामशमः स्पृहा ।
रजस्येतानि जायन्ते विवृद्धे भरतर्षभ ॥
लोभ काम आरंभ हो, बनते कर्म सकाम ।
रज गुण के लक्षण यही, अर्जुन बढ़ता काम ॥१४-१२॥

अप्रकाशोऽप्रवृत्तिश्च प्रमादो मोह एव च ।
तमस्येतानि जायन्ते विवृद्धे कुरुनन्दन ॥
अंधकार आलस बढ़े, बढ़े मोह मद जान ।
तमगुण आता सामने, अर्जुन ऐसा मान ॥१४-१३॥

यदा सत्त्वे प्रवृद्धे तु प्रलयं याति देहभृत् ।
तदोत्तमविदां लोकानमगलान्प्रतिपद्यते ॥
सत्गुण बढ़ जाते जहाँ, होता देह विनाश ।
तभी लोक उत्तम मिले, शुद्ध गति में वास ॥१४-१४॥

रजसि प्रलयं गत्वा कर्मसङ्गिषु जायते ।
तथा प्रलीनस्तमसि मूढयोनिषु जायते ॥
प्रलय रजो गुण में मिले, गति हो कर्म सकाम ।
विलीन होय अज्ञान में, पशु सा मिलता काम ॥१४-१५॥

कर्मणः सु.तस्याहुः सात्त्विकं निर्मलं फलम् ।
रजसस्तु फलं दुःखमज्ञानं तमसः फलम् ॥
इसी तरह है करम-फल, शुद्ध सत्य फलवान ।
रज में दुख ही दुख मिले, अंधकार अज्ञान ॥१४-१६॥

सत्त्वात्संजायते ज्ञानं रजसो लोभ एव च ।
प्रमादमोहौ तमसो भवतोऽज्ञानमेव च ॥
ज्ञान सद्गुण से मिले, रज से मिलता लोभ ।
तम मिलता मद-मोह से, अज्ञानी से क्षोभ ॥१४-१७॥

ऊधर्वं गच्छन्ति सत्त्वस्था मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः ।
जघन्यगुणवृत्तिस्था अधो गच्छन्ति तामसाः ॥
उच्च लोक सत को मिले, होय मध्य रज वास ।
नीच नर्क तम को मिले, अधोगतीय प्रवास ॥१४-१८॥

नान्यं गुणेभ्यः कर्तारं यदा द्रष्टानुपश्यति ।
गुणेभ्यश्च परं वेत्ति मद्भावं सोऽधिगच्छति ॥
गुण के ना अतिरिक्त कुछ, हो कर्ता आभास ।
परमेश्वर गुण से परे, ज्ञानी परम निवास ॥१४-१९॥

गुणानेतानतीत्य त्रीन्देही देहसमुद्भवान् ।
जन्ममृत्युजरादुःखैर्विमुक्तोऽमृतमश्नुते ॥
जो गुणसागर लाँघ ले, बसे देह गुण तीन ।
जन्म मृत्यु दुख रोग से, मुक्त प्रभु में लीन ॥१४-२०॥

अर्जुन उवाच

कैर्लिङ्गैस्त्रीन्गुणानेतानतीतो भवति प्रभो ।
किमाचारः कथं चैतांस्त्रीन्गुणानतिवर्तते ॥
हे केशव! है लक्षण क्या, गुणसागर से पार ।
कैसा होता आचरण, कैसे होता पार ॥१४-२१॥

श्रीभगवानुवाच

प्रकाशं च प्रवृत्तिं च मोहमेव च पाण्डव ।
न द्वेष्टि संप्रवृत्तानि न निवृत्तानि काङ्क्षति ॥
हो प्रकाश या आसक्ति, या अर्जुन हो मोह ।
होने पर नफरत नहीं, ना पर ना विद्रोह ॥१४-२२॥

उदासीनवदासीनो गुणैर्यो न विचाल्यते ।
गुणा वर्तन्त इत्येव योऽवतिष्ठति नेङ्गते ॥
वह हरदम निर्लिप्त रहे, हो अविचल निष्काम ।
गुण के अपने काम हैं, निश्चल मेरा काम ॥१४-२३॥

समदुःखसुखः स्वस्थः समलोष्टाश्मकाञ्चनः ।
तुल्यप्रियाप्रियो धीरस्तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः ॥
सुख दुख में सम भाव हो, माटी स्वर्ण समान ।
प्रिय हो या अप्रिय हो, यश निन्दा सब जान ॥१४-२४॥

मानापमानयोस्तुल्यस्तुल्यो मित्रारिपक्षयोः ।
सर्वारम्भपरित्यागी गुणातीतः स उच्यते ॥

मान और अपमान भी, दुश्मन दोस्त समान ।
त्याग प्रयत्नों का करें, गुण से रह अनजान ॥१४-२५॥

मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते ।
स गुणान्समतीत्यैतान्ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥

स्थायी मुझ में जो रहे, भक्ति व सेवा भाव ।
गुण सागर को पार कर, मिलता ब्रह्म स्वभाव ॥१४-२६॥

ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहममृतस्याव्ययस्य च ।
शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च ॥

आश्रय हूँ उस ब्रह्म का, होता नहीं विनाश ।
बना रहूँ शाश्वत सदा, चरम सुखद विश्वास ॥१४-२७॥

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे
श्रीकृष्णार्जुनसंवादे गुणत्रयविभागयोगो नाम चतुर्दशोऽध्यायः ॥

॥ ॐ ॐ ॐ ॥

१५. पञ्चदशोऽध्यायः पुरुषोत्तमयोग ॐ

श्रीभगवानुवाच

ऊर्ध्वमूलमधःशाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम् ।
छन्दांसि यस्य पर्णानि यस्तं वेद स वेदवित् ॥

नभ नीचे जड़ शाख़ है, जग है पेड़ समान ।
वेद पत्तियाँ जान ले, ज्ञाता ऐसा ज्ञान ॥१५-१॥

अधश्चोर्ध्वं प्रसृतास्तस्य शाखा गुणप्रवृद्धा विषयप्रवालाः ।
अधश्च मूलान्यनुसंततानि कर्मानुबन्धीनि मनुष्यलोके ॥

नीचे ऊपर शाख़ है, गुण से सींचे काम ।
फैली नीचे भी जड़ें, मानव लोक सकाम ॥१५-२॥

न रूपमस्येह तथोपलभ्यते नान्तो न चादिर्न च संप्रतिष्ठा ।
अश्वत्थमेनं सुविरूढमूल - मसङ्गशस्त्रेण दृढेन छित्त्वा ॥

पेड़ अबूझ यहीं खड़ा, आदि अंत अन्जान ।
दृढ मूल इस वृक्ष का, काट सके बस ज्ञान ॥१५-३॥

ततः पदं तत्परिमार्गितव्यं यस्मिन्गता ननिवर्तन्ति भूयः ।
तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्ये यतः प्रवृत्तिः प्रसृता पुराणी ॥

ऐसा पद फिर खोज लो, पुनर्जन्म मिट जाय ।
शरण ईश्वरी ही मिले, जाके मूल समाय ॥१५-४॥

निर्मानमोहा जितसङ्गदोषा अध्यात्मनित्या विनिवृत्तकामाः ।
द्वन्द्वैर्विमुक्ताः सुखदुःखसंज्ञै-गच्छन्त्यमूढाः पदमव्ययं तत् ॥
मान मोह से मुक्त हो, काम मिटाये ज्ञान ।
सुख दुख से मुक्ति मिले, मिले उच्च तब स्थान ॥१५-५॥

न तद्भासयते सूर्यो न शशाङ्को न पावकः ।
यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम ॥
सूर्य चन्द्र या आग हो, मेरे नहीं प्रकाश ।
जाकर जहाँ न आ सके, मेरा वो आवास ॥१५-६॥

ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः ।
मनःषष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति ॥
ब्रह्म अंश जीव लोक में, सदा रहे हर काल ।
छह मन संग हैं इंद्रियाँ, संघर्षो की चाल ॥१५-७॥

शरीरं यदवाप्नोति यच्चाप्युत्क्रामतीश्वरः ।
गृहित्वैतानि संयाति वायुर्गन्धानिवाशयात् ॥
पाना हो या त्यागना, ईश्वर का है काम ।
लिये गंध वायु बहे, कहीं दूसरे धाम ॥१५-८॥

श्रोत्रं चक्षुः स्पर्शनं च रसनं घ्राणमेव च ।
अधिष्ठाय मनश्चायं विषयानुपसेवते ॥
कान आँख सह स्पर्श भी, मिले जीभ संग कान ।
मन के संग शरीर बने, हो विषयों का पान ॥१५-९॥

उत्क्रामन्तं स्थितं वापि भुञ्जानं वा गुणान्वितम् ।
विमूढा नानुपश्यन्ति पश्यन्ति ज्ञानचक्षुषः ॥
देह रहे या ना रहे, या हो गुण संग भोग ।
मूर्ख देख सकता नहीं, ज्ञान चक्षु से योग ॥१५-१०॥

यतन्तो योगिनश्चैनं पश्यन्त्यात्मन्यवस्थितम् ।
यतन्तोऽप्यकृतात्मानो नैनं पश्यन्त्यचेतसः ॥
देख सके योगी इसे, करता सतत प्रयास ।
आत्मज्ञान जिसको नहीं, नहीं उन्हें आभास ॥१५-११॥

यदादित्यगतं तेजो चचयहतजगद्भासयतेऽखिलम् ।
यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ तत्तेजो विद्धि मामकम् ॥
सकल जगत का तेज़ मैं, पाये सूर्य प्रकाश ।
अग्नि हो या चंद्रमा, तेजयुक्त आकाश ॥१५-१२॥

गामाविश्य च भूतानि धारयाम्यहमोजसा ।
पुष्णामि चौषधीः सर्वाः सोमो भूत्वा रसात्मकः ॥
जीव सभी धारण करूँ, आकर मैं सब लोक ।
वनस्पति से पोषकता, रस दूँ चंद्र त्रिलोक ॥१५-१३॥

अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः ।
प्राणापानसमायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम् ॥
पाचक मैं अग्नि बनूँ, बस जाऊँ हर जीव ।
प्राण वायु मुझसे चलें, पचे भोज हर जीव ॥१५-१४॥

सर्वस्य चाहं हृदि संनिविष्टो मत्तः स्मृतिजर्ज्ञानमपोहनं च ।
वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो वेदान्तकृद्वेदविदेव चाहम् ॥
मैं बसता हर जीव में, मैं स्मृति मैं ज्ञान ।
जानो मुझको वेद से, शेष है सब अज्ञान ॥१५-१५॥

द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च ।
क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते ॥
जीव लोक में दो बसे, क्षर अक्षर तू जान ।
जग भौतिक क्षर से बना, ईश्वर अक्षर मान ॥१५-१६॥

उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः ।
यो लोकत्रयमाविश्य बिभतर्यव्यय ईश्वरः ॥
परम पुरुष परमात्मा, अविनाशी भगवान ।
तीन लोक वह पालता, ईश्वर उसको मान ॥१५-१७॥

यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः ।
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः ॥
क्षर - अक्षर के पार मैं, सर्वश्रेष्ठ हूँ जान ।
सर्व जगत के ज्ञान में, पुरुषोत्तम तू मान ॥१५-१८॥

यो मामेवमसंमूढो जानाति पुरुषोत्तमम् ।
स सर्वविद्भजति मां सर्वभावेन भारत ॥
जान मुझे संशयरहित, श्रेष्ठ-पुरुष भगवान ।
जग का वो ज्ञानी बने, भरत पुत्र तू मान ॥१५-१९॥

इति गुह्यतमं शास्त्रमिदमुक्त मयानघ ।
एतद्बुद्ध्वा बुद्धिमान्स्यात्कृतकृत्यश्च भारत ।।
गुप्त ज्ञान मैंने कहा, पापरहित तू जान ।
समझे बुद्धिमान बने, सफल बने वो जान ।।१५-२०।।

तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे
श्रीकृष्णार्जुन संवादे पुरुषोत्तमयोगो नाम पञ्चदशोऽध्यायः ।।

।। ॐ ॐ ॐ ।।

१६. षोडशोऽध्यायः दैवासुरसंपद्विभागयोग ॐ

श्रीभगवानुवाच

अभयं सत्त्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थितिः ।
दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम् ॥
शुद्ध बुद्धि डर से परे, मन बस जाये ज्ञान ।
यज्ञ, दान, तप, संयम हो, सरल, वेद का ध्यान ॥१६-१॥

अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः शान्तिरपैशुनम् ।
दया भूतेष्वलालुप्त्वं मार्दवं ह्रीरचापलम् ॥
सत्य, अहिंसा, शांति रहे, दोषारोपण त्याग ।
लोभ क्रोध भय मुक्त हो, भद्र करुण सहभाग ॥१६-२॥

तेजः क्षमा धृतिः शौचमद्रोहो नातिमानिता ।
भवन्ति संपदं दैवीमभिजातस्य भारत ॥
तेज़ क्षमा धीरज धरे, ईर्ष्या ना सम्मान ।
अर्जुन दैवीय गुण यही, पुरुष पुनीत तू मान ॥१६-३॥

दम्भो दर्पोऽभिमानश्च क्रोधः पारुष्यमेव च ।
अज्ञानं चाभिजातस्य पार्थ संपदमासुरीम् ॥
दम्भ, दर्भ, अभिमान भी, क्रोधी और कठोर ।
अर्जुन वह ज्ञानी नहीं, असुर गुणा सिरमौर ॥१६-४॥

दैवी संपद्विमोक्षाय निबन्धायासुरी मता ।
मा शुचः संपदं दैवीमभिजातोऽसि पाण्डव ॥

दिव्य गुणों से मोक्ष मिले, बंधन असुर ही होय ।
हे अर्जुन चिंतित न हो, दैवी गुण तू बोय ॥१६-५॥

द्वौ भूतसर्गौ लोकेऽस्मिन्दैव आसुर एव च ।
दैवो विस्तरशः प्रोक्त आसुरं पार्थ मे शृणु ॥

बसे लोक इस जीव दो, असुर व देव समान ।
दैव गुण मैंने कहे, असुर गुणों को जान ॥१६-६॥

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च जना न विदुरासुराः ।
न शौचं नापि चाचारो ना सत्यं तेषु विद्यते ॥

क्या करें क्या ना करें, नहीं असुर को ज्ञान ।
सदाचरण होता नहीं, नहीं सत्य का भान ॥१६-७॥

असत्यमप्रतिष्ठं ते जगदाहुरनीश्वरम् ।
अपरस्परसंभूतं किमन्यत्कामहैतुकम् ॥

कहते हैं आधार नहीं, झूठा यह संसार ।
निर्माता ईश्वर नहीं, नर - नारी ही सार ॥१६-८॥

एतां दृष्टिमवष्टभ्य नष्टात्मानोऽल्पबुद्धयः ।
प्रभवन्त्युग्रकर्माणः क्षयाय जगतोऽहिताः ॥

स्वीकारें उस सोच को, नष्ट आत्म अज्ञान ।
अनुपयोगी कर्म करे, निकले जग की जान ॥१६-९॥

काममाश्रित्य दुष्पूरं दम्भमानमदान्विताः ।
मोहाद्गृहीत्वासद्ग्राहान्प्रवर्तन्तेऽशुचिव्रताः ॥

काम शरण संतुष्ट न हो, दंभ मदन और मान ।
क्षणभंगुर के मोह में, उसका रहता ध्यान ॥१६-१०॥

चिन्तामपरिमेयां च प्रलयान्तामुपाश्रिताः ।
कामोपभोगपरमा एतावदिति निश्चिताः ॥

मरने तक चिन्ता करे, भय भी रहे अपार ।
काम भोग में लिप्तता, परम लक्ष्य संसार ॥१६-११॥

आशापाशशतैर्बद्धाः कामक्रोधपरायणाः ।
ईहन्ते कामभोगार्थमन्यायेनार्थसञ्चयान् ॥

आशा बँधी हज़ार हैं, काम क्रोध भरमार ।
काम भोग में मन रहे, काला धन संचार ॥१६-१२॥

इदमद्य मया लब्धमिमं प्राप्स्ये मनोरथम् ।
इदमस्तीदमपि मे भविष्यति पुनर्धनम् ॥

मन में मेरे आज है, पाऊँगा हर हाल ।
जो है उस में और भी, होगा मालामाल ॥१६-१३॥

असौ मया हतः शत्रुर्हनिष्ये चापरानपि ।
ईश्वरोऽहमहं भोगी सिद्धोऽहं बलवान्सुखी ॥

शत्रु मार मैंने दिये, मारूँ अन्य हज़ार ।
ईश्वर, भोगी, सिद्ध हूँ, सुख- बल अपरंपार ॥१६-१४॥

आढ्योऽभिजनवानस्मि कोऽन्योऽस्ति सदृशो मया ।
यक्ष्ये दास्यामि मोदिष्य इत्यज्ञानविमोहिताः ॥
मैं कुलीन धनवान हूँ, मेरे कौन समान ।
यज्ञ करूँ मैं दान करूँ, मोहित मन अज्ञान ॥१६-१५॥

अनेकचित्तविभ्रान्ता मोहजालसमावृताः ।
प्रसक्ताः कामभोगेषु पतन्ति नरकेऽशुचौ ॥
चिन्ता से है घिरा हुआ, बुना मोह का जाल ।
कामभोग आसक्त रहे, चले नर्क की चाल ॥१६-१६॥

आत्मसंभाविताः स्तब्धा धनमानमदान्विताः ।
यजन्ते नामयज्ञैस्ते दम्भेनाविधिपूर्वकम् ॥
खुद को श्रेष्ठ समझ दंभी, धन-मद में हो चूर ।
नाममात्र को यज्ञ कर, विधि विधान से दूर ॥१६-१७॥

अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं च संश्रिताः ।
मामात्मपरदेहेषु प्रद्विषन्तोऽभ्यसूयकाः ॥
दर्प बल अभिमान करे, क्रोध काम का वास ।
ईर्ष्या व निन्दा करे, कुछ ना आवे रास ॥१६-१८॥

तानहं द्विषतः क्रुरान्संसारेषु नराधमान् ।
क्षिपाम्यजस्त्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु ॥
ये ईर्ष्यालु क्रूर जो, हो अधमी संसार ।
अशुभ योनि मैं डालता, असुर ये बारम्बार ॥१६-१९॥

आसुरीं योनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि ।
मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्यधमां गतिम् ॥
पुनः आसुरी योनि में, जन्म हो बारंबार ।
नहीं पा सके वो मुझे, धर्म न गति हर बार ॥१६-२०॥

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः ।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत् ॥
तीन द्वार इस नर्क के, करता जीव विनाश ।
काम क्रोध सह लोभ है, करिये इनका नाश ॥१६-२१॥

एतैर्विमुक्तः कौन्तेय तमोद्वारैस्त्रिभिर्नरः ।
आचरत्यात्मनः श्रेयस्ततो याति परां गतिम् ॥
तीन द्वार अज्ञान के, मुक्त पार्थ जो पाय ।
मंगल ख़ुद का वो करे, परमो गति समाय ॥१६-२२॥

यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः ।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम् ॥
समझे ना जो शास्त्र को, मनमानी का काम ।
सुख सिद्धि मिलती नहीं, परम गति नहीं धाम ॥१६-२३॥

तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ ।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि ॥
शास्त्र ज्ञान प्रमाण है, निश्चित करता काम ।
विधि विधान को जानकर, होवे कर्म सुकाम ॥१६-२४॥

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे
श्रीकृष्णार्जुनसंवादे दैवासुरसंपद्विभागयोगो नाम षोडशोऽध्यायः ॥

॥ ॐ ॐ ॐ ॥

१७. सप्तदशोऽध्यायः श्रद्धात्रयविभागयोग ॐ

अर्जुन उवाच

ये शास्त्रविधिमुत्सृज्य यजन्ते श्रद्धयान्विताः ।
तेषां निष्ठा तु का कृष्ण सत्त्वमाहो रजस्तमः ॥
पूजन शास्त्र विरोध में, करे कल्पना साथ ।
यतो रजो व तमो गुणी, रहते किसके नाथ ॥१७-१॥

श्रीभगवानुवाच

त्रिविधा भवति श्रद्धा देहिनां सा स्वभावजा ।
सात्त्विकी राजसी चैव तामसी चेति तां शृणु ॥
श्रद्धा तीनों रूप की, दैहिक रहे स्वभाव ।
सतो रजो व तमो गुणी, सुन मुझसे यह भाव ॥१७-२॥

सत्त्वानुरूपा सर्वस्य श्रद्धा भवति भारत ।
श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः ॥
जैसा गुण श्रद्धा वही, अर्जुन ऐसा मान ।
जीव श्रद्धा युक्त बने, गुण श्रद्धा इक जान ॥१७-३॥

यजन्ते सात्त्विका देवान्यक्षरक्षांसि राजसाः ।
प्रेतान्भूतगणांश्चान्ये यजन्ते तामसा जनाः ॥
सतगुणी पूजे देवता, असुर रजो गुणगान ।
भूत प्रेत को पूजते, तम है जिनकी शान ॥१७-४॥

अशास्त्रविहितं घोरं तप्यन्ते ये तपो जनाः ।
दम्भाहंकारसंयुक्ताः कामरागबलान्विताः ॥
शास्त्र विरुद्ध जो तप करे, लोगों का नुकसान ।
अहंकार से लिप्त रहे, काम राग बलवान ॥१७-५॥

कर्षयन्तः शरीरस्थं भूतग्राममचेतसः ।
मां चौवान्तःशरीरस्थं तान्विद्ध्यासुरनिश्चयान् ॥
मूर्ख कष्ट देता रहे, तन में बैठा जीव ।
असुर भाव है जानिये, परम प्रभु हर जीव ॥१७-६॥

आहारस्त्वपि सर्वस्य त्रिविधो भवति प्रियः ।
यज्ञस्तपस्तथा दानं तेषां भेदमिमं शृणु ॥
भोजन भी प्रत्येक का, तीन गुणों का मान ।
करे यज्ञ तप दान सभी, अंतर मुझसे जान ॥१७-७॥

आयुःसत्त्वबलारोग्यसुखप्रीतिविवर्धनाः ।
रस्याः स्निग्धाः स्थिरा हृद्या आहाराः सात्त्विकप्रियाः ॥
आयु सुख संतोष बढ़े, रोग मिटाता भोज ।
रसमय मन अच्छा लगे, सात्विक भोजन रोज़ ॥१७-८॥

कट्म्ललवणात्युष्णतीक्ष्णरूक्षविदाहिनः ।
आहारा राजसस्येष्टा दुःखशोकामयप्रदाः ॥
गरम कसैला चटपटा, लवण युक्त आहार ।
रजों गुणी को प्रिय लगे, शोक रोग संचार ॥१७-९॥

यातयामं गतरसं पूति पर्युषितं च यत् ।
उच्छिष्टमपि चामेध्यं भोजनं तामसप्रियम् ॥
दूषित बिगड़ा रस नहीं, ना हो जिसमें स्वाद ।
जूठा अरुचि भोजन तो, तमगुण लागे स्वाद ॥१७-१०॥

अफलाकाङ्क्षिभिर्यज्ञो विधिदृष्टो य इज्यते ।
यष्टव्यमेवेति मनः समाधाय स सात्त्विकः ॥
फल न चाहे यज्ञ करे, करें शास्त्र अनुसार ।
हो जो ऐसे यज्ञ यहाँ, सत्गुणी का व्यवहार ॥१७-११॥

अभिसंधाय तु फलं दम्भार्थमपि चौव यत् ।
इज्यते भरतश्रेष्ठ तं यज्ञं विद्धि राजसम् ॥
फल इच्छा परिपूर्ण हो, या हो फिर अभिमान ।
अर्जुन ऐसे यज्ञ को, रजोगुणी तू जान ॥१७-१२॥

विधिहीनमसृष्टान्नं मन्त्रहीनमदक्षिणम् ।
श्रद्धाविरहितं यज्ञं तामसं परिचक्षते ॥
विधि विहीन प्रसाद नहीं, ना मन्तर ना दान ।
बिना आस्था यज्ञ जहाँ, तामस उसको मान ॥१७-१३॥

देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं शौचमार्जवम् ।
ब्रह्मचर्यमहिंसा च शारीरं तप उच्यते ॥
देव, गुरु जो पूजते, शुद्ध सरल सब काम ।
बिना अहिंसा ब्रह्मचर्य, तप है तन का काम ॥१७-१४॥

अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत् ।
स्वाध्यायाभ्यसनं चौव वाङ्मयं तप उच्यते ॥
जो वाणी दुखती नहीं, सच्ची और सुहाय ।
नित्य वेद अभ्यास करे, वाणी तप कहलाय ॥१७-१५॥

मनः प्रसादः सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रहः ।
भावसंशुद्धिरित्येतत्तपो मानसमुच्यते ॥
मौन सह संतोष सरल, आत्म संयमी भाव ।
ऐसा तप ही शुद्ध करे, मन का यही स्वभाव ॥१७-१६॥

श्रद्धया परया तप्तं तपस्तत्त्रिविधं नरैः ।
अफलाकाङ्क्षिभिर्युक्तैः सात्त्विकं परिचक्षते ॥
दिव्यास्था से तप करे, होवे तीन प्रकार ।
फल की इच्छा नहीं करे, सद्गुण का यह सार ॥१७-१७॥

सत्कारमानपूजार्थं तपो दम्भेन चौव यत् ।
क्रियते तदिह प्रोक्त राजसं चलमध्रुवम् ॥
मान वास्ते तप करे, दंभ व पूजा साथ ।
मान रजगुणी तप इसे, रहे न शाश्वत साथ ॥१७-१८॥

मूढग्राहेणात्मनो यत्पीडया क्रियते तपः ।
परस्योत्सादनार्थं वा तत्तामसमुदाहृतम् ॥
ख़ुद पीड़ा या अन्य को, देता मूर्ख कठोर ।
नाश अन्य का ध्येय हो, तमगुण समझो शोर ॥१७-१९॥

दातव्यमिति यद्दानं दीयतेऽनुपकारिणे ।
देशे काले च पात्रे च तद्दानं सात्त्विकं स्मृतम् ॥
योग्य दान जो जन करे, ना आशा प्रतिकार ।
देश काल व पात्र का, दान सत्य आधार ॥१७-२०॥

यत्तु प्रत्युपकारार्थं फलमुद्दिश्य वा पुनः ।
दीयते च परिक्लिष्टं तद्दानं राजसं स्मृतम् ॥
जो माँगे प्रतिकार में, या फल-इच्छा दान ।
या दे पश्चात्ताप में, रजोगुणी तू मान ॥१७-२१॥

अदेशकाले यद्दानमपात्रेभ्यश्च दीयते ।
असत्कृतमवज्ञातं तत्तामसमुदाहृतम् ॥
पात्र अनुचित और समय, ना पवित्र सा स्थान ।
ध्यान न आदर है कहीं, तमोगुणी तू मान ॥१७-२२॥

ॐ तत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः ।
ब्राह्मणास्तेन वेदाश्च यज्ञाश्च विहिताः पुरा ॥
ॐ तत् सत् निर्देश है, सदा ब्रह्म के तीन ।
वेद यज्ञ में ब्राम्हण, रहे हमेशा लीन ॥१७-२३॥

तस्मादोमित्युदाहृत्य यज्ञदानतपःक्रियाः ।
प्रवर्तन्ते विधानोक्ताः सततं ब्रह्मवादिनाम् ॥
ओम से आरंभ करे, यज्ञ तपस्या दान ।
योगी के शुभ काम को, ओम ही विधि विधान ॥१७-२४॥

तदित्यनभिसन्धाय फलं यज्ञतपःक्रियाः ।
दानक्रियाश्च विविधाः क्रियन्ते मोक्षकाङ्क्षिभिः ॥
फल इच्छा करते नहीं, यज्ञ जप तप काम ।
काम दान के जो करे, मिले मोक्ष का धाम ॥१७-२५॥

सद्भावे साधुभावे च सदित्येतत्प्रयुज्यते ।
प्रशस्ते कर्मणि तथा सच्छब्दः पार्थ युज्यते ॥
साधु या सद्भाव हो, सत् का सब में मेल ।
पार्थ कोई काम हो, सत् का है यह खेल ॥१७-२६॥

यज्ञे तपसि दाने च स्थितिः सदिति चोच्यते ।
कर्म चौव तदर्थीयं सदित्येवाभिधीयते ॥
दान यज्ञ हो तप सभी, सत् का हो उच्चार ।
साथ सत्य जो कर्म करे, ब्रह्म में बेड़ा पार ॥१७-२७॥

अश्रद्धया हुतं दत्तं तपस्तप्तं कृतं च यत् ।
असदित्युच्यते पार्थ न च तत्प्रेत्य नो इह ॥
दान यज्ञ या तप करे, ना श्रद्धा का नाम ।
हे अर्जुन झूठा पड़े, किसी जन्म ना काम ॥१७-२८॥

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे
श्रीकृष्णार्जुनसंवादे श्रद्धात्रयविभागयोगो नाम सप्तदशोऽध्यायः ॥

॥ ॐ ॐ ॐ ॥

१८. अष्टादशोऽध्यायः मोक्षसन्यासयोग ॐ

अर्जुन उवाच

सन्यासस्य महाबाहो तत्त्वमिच्छामि वेदितुम् ।
त्यागस्य च हृषीकेश पृथक्केशिनिषूदन ॥
सन्यास का तत्व क्या, केशव कह दो ज्ञान ।
हृषिकेश है तजना क्या, लेना चाहूँ जान ॥१८-१॥

श्रीभगवानुवाच

काम्यानां कर्मणां न्यासं संन्यासं कवयो विदुः ।
सर्वकर्मफलत्यागं प्राहुस्त्यागं विचक्षणाः ॥
कर्म काम के त्याग को, कहते हैं सन्यास ।
कर्म फल के त्याग को, ज्ञानी कहते न्यास ॥१८-२॥

त्याज्यं दोषवदित्येके कर्म प्राहुर्मनीषिणः ।
यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यमिति चापरे ॥
त्यागो सभी सकाम कर्म, जन कुछ कहे महान ।
यज्ञ दान तप त्यागिये, ज्ञानी जन का मान ॥१८-३॥

निश्चयं शृणु मे तत्र त्यागे भरतसत्तम ।
त्यागो हि पुरुषव्याघ्र त्रिविधः संप्रकीर्तितः ॥
भरतश्रेष्ठ मुझसे सुनो, त्याग विषय का ज्ञान ।
त्याग तीन प्रकार के, सिंह-पुरुष तू जान ॥१८-४॥

यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत् ।
यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम् ॥
यज्ञ दान तप कर्म का, करो कभी ना त्याग ।
यज्ञ दान तप ही सदा, ज्ञानी का भी राग ॥१८-५॥

एतान्यपि तु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा फलानि च ।
कर्तव्यानीति मे पार्थ निश्चितं मतमुत्तमम् ॥
पूर्ण करो सब कर्म ये, फल इच्छा को नोच ।
पार्थ भाव कर्तव्य रहे, ऐसी मेरी सोच ॥१८-६॥

नियतस्य तु संन्यासः कर्मणो नोपपद्यते ।
मोहात्तस्य परित्यागस्तामसः परिकीर्तितः ॥
नियत काम को त्याग मत, ऐसा ले तू जान ।
त्याग मोहवश जो करे, तमोगुणी तू मान ॥१८-७॥

दुःखमित्येव यत्कर्म कायक्लेशभयात्त्यजेत् ।
स कृत्वा राजसं त्यागं नैव त्यागफलं लभेत् ॥
करें त्याग दुख को समझ, भय काया या क्लेश ।
ऐसा त्याग रजोगुणी, त्याग लाभ ना शेष ॥१८-८॥

कार्यमित्येव यत्कर्म नियतं क्रियतेऽर्जुन ।
सङ्गं त्यक्त्वा फलं चौव स त्यागः सात्त्विको मतः ॥
नियत कर्म कर्तव्य समझ, अर्जुन करता काम ।
फल आसक्ति त्याग कर, सतगुण का यह काम ॥१८-९॥

न द्वेष्ट्यकुशलं कर्म कुशले नानुषज्जते ।
त्यागी सत्त्वसमाविष्टो मेधावी छिन्नसंशयः ॥
घृणा अशुभ कर्मठ नहीं, शुभ में नहीं लगाव ।
ज्ञानी त्यागी सतगुणी, संशय का नहीं भाव ॥१८-१०॥

न हि देहभृता शक्यं त्यक्तु कर्माण्यशेषतः ।
यस्तु कर्मफलत्यागी स त्यागीत्यभिधीयते ॥
पूर्ण त्याग संभव नहीं, काम देह की चाह ।
कर्मफल का त्याग करे, त्यागी की यह राह ॥१८-११॥

अनिष्टमिष्टं मिश्रं च त्रिविधं कर्मणः फलम् ।
भवत्यत्यागिनां प्रेत्य न तु संन्यासिनां क्वचित् ॥
मिश्रण निष्ट अनिष्ट या, तीन कर्म फल जान ।
संसारी छूटे नहीं, त्यागी ईश्वरवान ॥१८-१२॥

पञ्चैतानि महाबाहो कारणानि निबोध मे ।
सांख्ये कृतान्ते प्रोक्तानि सिद्धये सर्वकर्मणाम् ॥
कारण पाँच महाबली, मुझसे ले तू जान ।
सांख्य भी माने इन्हें, कर्म सिद्धि तू मान ॥१८-१३॥

अधिष्ठानं तथा कर्ता करणं च पृथग्विधम् ।
विविधाश्च पृथक्चेष्टा दैवं चैवात्र पञ्चमम् ॥
देह कर्ता स्थान अरु, इन्द्रिय कई प्रकार ।
तरह तरह की चेष्टा, दैवीय चमत्कार ॥१८-१४॥

शरीरवाङ्मनोभिर्यत्कर्म प्रारभते नरः ।
न्याय्यं वा विपरीतं वा पञ्चैते तस्य हेतवः ॥
देह वचन मन करम कर, मानव करता काम ।
उचित संग अनुचित रहे, पाँच करण का काम ॥१८-१५॥

तत्रैवं सति कर्तारमात्मानं केवलं तु यः ।
पश्यत्यकृतबुद्धित्वान्न स पश्यति दुर्मतिः ॥
जो कर्ता खुद को कहे, कारण पाँच न मान ।
बुद्धि उसकी भ्रष्ट रहे, खुद से ही अनजान ॥१८-१६॥

यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते ।
हत्वापि स इमाँल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते ॥
बुद्धि से जो लिप्त नहीं, अहंकार नही भाव ।
मारे पर मारे नहीं, बंधन नहीं प्रभाव ॥१८-१७॥

ज्ञानं ज्ञेयं परिज्ञाता त्रिविधा कर्मचोदना ।
करणं कर्म कर्तेति त्रिविधः कर्मसंग्रहः ॥
ज्ञान, ज्ञेय, ज्ञाता बने, कर्म प्रेरणा तीन ।
कर्म, कर्ता इन्द्रियाँ, रहते कर्म अधीन ॥१८-१८॥

ज्ञानं कर्म च कर्ता च त्रिधैव गुणभेदतः ।
प्रोच्यते गुणसंख्याने यथावच्छृणु तान्यपि ॥
ज्ञान, कर्म कर्ता सदा, तीन तरह के भेद ।
भिन्न सगुण अनुरूप है, सुन मुझसे ये वेद ॥१८-१९॥

सर्वभूतेषु येनैकं भावमव्ययमीक्षते ।
अविभक्तं विभक्तेषु तज्ज्ञानं विद्धि सात्त्विकम् ॥

सब जीवों को एक सा, हो अविनाशी भाव ।
अलग अलग पर है नहीं, वो है सत्य स्वभाव ॥१८-२०॥

पृथक्त्वेन तु यज्ज्ञानं नानाभावान्पृथग्विधान् ।
वेत्ति सर्वेषु भूतेषु तज्ज्ञानं विद्धि राजसम् ॥

भिन्न भिन्न जो जीव में, लिये भिन्नता ज्ञान ।
रजोगुणी उसको समझ, जिसको ऐसा ज्ञान ॥१८-२१॥

यत्तु कृत्स्नवदेकस्मिन्कार्ये सक्तमहैतुकम् ।
अतत्त्वार्थवदल्पं च तत्तामसमुदाहृतम् ॥

पूर्ण रूप जो लिप्त हो, बिना हेतु का काम ।
सब कुछ समझे तुच्छ को, तमोगुणी है नाम ॥१८-२२॥

नियतं सङ्गरहितमरागद्वेषतः कृतम् ।
अफलप्रेप्सुना कर्म यत्तत्सात्त्विकमुच्यते ॥

राग द्वेष का त्याग करे, सदा करे जो काम ।
फल की इच्छा ना करे, सतोगुणी का काम ॥१८-२३॥

यत्तु कामेप्सुना कर्म साहंकारेण वा पुनः ।
क्रियते बहुलायासं तद्राजसमुदाहृतम् ॥

रहे सदा फल कामना, अहंकार का भाव ।
काम करे भरपूर जो, रजोगुणी कहलाव ॥१८-२४॥

अनुबन्धं क्षयं हिंसामनवेक्ष्य च पौरुषम् ।
मोहादारभ्यते कर्म यत्तत्तामसमुच्यते ।।
हिंसा फल सोचे नहीं, करता है जो काम ।
कर्म मोहवश जो करे, तमोगुणी है नाम ।।१८-२५।।

मुक्तसङ्गोऽनहंवादी धृत्युत्साहसमन्वितः ।
सिद्ध्यसिद्ध्योर्निर्विकारः कर्ता सात्त्विक उच्यते ।।
अहंकार से मुक्त रहे, जोश भरा भरपूर ।
हार जीत चिंता नहीं, सतोगुणी वह शूर ।।१८-२६।।

रागी कर्मफलप्रेप्सुर्लुब्धो हिंसात्मकोऽशुचिः ।
हर्षशोकान्वितः कर्ता राजसः परिकीर्तितः ।।
कर्म-फलों का लोभ रखे, अशुद्ध ईर्ष्यावान ।
सुखदुख जब विचलित करे, रजगुण हो बलवान ।।१८-२७।।

अयुक्तः प्राकृतः स्तब्धः शठो नैष्कृतिकोऽलसः ।
विषादी दीर्घसूत्री च कर्ता तामस उच्यते ।।
कपटी विद्रोही हठी, आलस कर अपमान ।
खिन्न मना करते विलम्ब, तमोगुणी तू मान ।।१८-२८।।

बुद्धेर्भेदं धृतेश्चौव गुणतस्त्रिविधं शृणु ।
प्रोच्यमानमशेषेण पृथक्त्वेन धनंजय ।।
धैर्य, बुद्धि भी तीन गुणी, अर्जुन मुझसे जान ।
मैं कहता विस्तार से, अलग अलग गुण ज्ञान ।।१८-२९।।

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च कार्याकार्ये भयाभये ।
बन्धं मोक्षं च या वेत्ति बुद्धिः सा पार्थ सात्त्विकी ॥
क्या करें क्या नहीं करें, भय व अभय का ज्ञान ।
समझे बंधन मोक्ष का, सतोगुणी तू जान ॥१८-३०॥

यया धर्ममधर्मं च कार्यं चाकार्यमेव च ।
अयथावत्प्रजानाति बुद्धिः सा पार्थ राजसी ॥
धर्म अधर्म का भेद नहीं, नहीं कर्म का ज्ञान ।
बुद्धि न ये समझे कभी, रजोगुणी पहचान ॥१८-३१॥

अधर्मं धर्ममिति या मन्यते तमसावृता ।
सर्वार्थान्विपरीतांश्च बुद्धिः सा पार्थ तामसी ॥
अधर्म को ही धर्म कहे, अंधकार को ज्ञान ।
बुद्धि जहाँ उल्टी चले, तमोगुणी पहचान ॥१८-३२॥

धृत्या यया धारयते मनःप्राणेन्द्रियक्रियाः ।
योगेनाव्यभिचारिण्या धृतिः सा पार्थ सात्त्विकी ॥
संकल्पों का धारण कर, वश मे मन सह प्राण ।
योग निरंतर भी करे, पार्थ सात्विक बाण ॥१८-३३॥

यया तु धर्मकामार्थान्धृत्या धारयतेऽर्जुन ।
प्रसङ्गेन फलाकाङ्क्षी धृतिः सा पार्थ राजसी ॥
धर्म काम और अर्थ में, लिप्त हुआ कौन्तेय ।
फल की आशा में बँधा, रज ही उसका ध्येय ॥१८-३४॥

यया स्वप्नं भयं शोकं विषादं मदमेव च ।
न विमुञ्चति दुर्मेधा धृतिः सा पार्थ तामसी ॥
सपना, शोक, विषाद, भय, लिप्त मोह में जान ।
दुर्बुद्धि त्यागे नहीं, उसे तामसी मान ॥१८-३५॥

सुखं त्विदानीं त्रिविधं शृणु मे भरतर्षभ ।
अभ्यासाद्रमते यत्र दुःखान्तं च निगच्छति ॥
तीन तरह का सुख सुनो, भरत ऋषभ यह ज्ञान ।
रमता जो अभ्यास से, दुख का अंत हो जान ॥१८-३६॥

यत्तदग्रे विषमिव परिणामेऽमृतोपमम् ।
तत्सुखं सात्त्विकं प्रोक्तमात्मबुद्धिप्रसादजम् ॥
पहले जो विष सा लगे, अंत हो सुधा समान ।
उसे सतगुणी सुख कहो, प्रखर बुद्धि संतान ॥१८-३७॥

विषयेन्द्रियसंयोगाद्यत्तदग्रेऽमृतोपमम् ।
परिणामे विषमिव तत्सुखं राजसं स्मृतम् ॥
इंद्रिय विषयक योग जो, अमृत लगे समान ।
जहर मिले परिणाम में, रजसुख उसको मान ॥१८-३८॥

यदग्रे चानुबन्धे च सुखं मोहनमात्मनः ।
निद्रालस्यप्रमादोत्थं तत्तामसमुदाहृतम् ॥
अंत या आरंभ रहे, मोहभरा सुख पाय ।
नींद मोह आलस मिले, यही तमस कहलाय ॥१८-३९॥

न तदस्ति पृथिव्यां वा दिवि देवेषु वा पुनः ।
सत्त्वं प्रकृतिजैर्मुक्तं यदेभिः स्यात्त्रिभिर्गुणैः ॥
नहीं किसी भी लोक में, देव दिव्य आलोक ।
तीन गुणों से मुक्त रहे, कोई नहीं है लोक ॥१८-४०॥

ब्राह्मणक्षत्रियविशां शूद्राणां च परन्तप ।
कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभावप्रभवैर्गुणैः ॥
क्षत्रिय ब्राह्मण वैश्य या, रहे शूद्र का भाव ।
करम विभाजित ही करे, गुण की तरह स्वभाव ॥१८-४१॥

शमो दमस्तपः शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च ।
ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम् ॥
शांत संयम तप निर्मल, सत्य सहिष्णु स्वभाव ।
ज्ञान धर्म विज्ञान का, ब्राह्मण रखता भाव ॥१८-४२॥

शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम् ।
दानमीश्वरभावश्च क्षात्रं कर्म स्वभावजम् ॥
युद्ध वीरता दक्षता, धीरज ना डर भाव ।
दानवीर नेता बने, क्षत्रिय यही स्वभाव ॥१८-४३॥

कृषिगौरक्ष्यवाणिज्यं वैश्यकर्म स्वभावजम् ।
परिचर्यात्मकं कर्म शूद्रस्यापि स्वभावजम् ॥
गौ रक्षा खेती धंधा, वैश्य कर्म के भाव ।
काम जो सेवा का करे, वो ही शुद्र स्वभाव ॥१८-४४॥

स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः ।
स्वकर्मनिरतः सिद्धिं यथा विन्दति तच्छृणु ॥
अपने अपने करम से, सिद्धि पात नर जात ।
सिद्धि मिले स्वकर्म से, सुन मुझसे यह बात ॥१८-४५॥

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम् ।
स्वकर्मणा तमभ्यचर्य सिद्धिं विन्दति मानवः ॥
जो उद्भव सब जीव का, फैला जो हर ओर ।
पूजा कर स्व कर्म की, मिले सिद्धि नर ठौर ॥१८-४६॥

श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात् ।
स्वभावनियतं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम् ॥
श्रेष्ठ स्वधर्म अपूर्ण भी, पूर्ण रहे पर काम ।
करिये कर्म स्वभाव से, हो न पाप का नाम ॥१८-४७॥

सहजं कर्म कौन्तेय सदोषमपि न त्यजेत् ।
सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः ॥
अर्जुन कर्म न त्यागिये, चाहे उसमें दाग ।
दोष रहे हर काम में, धुँआ ढँकता आग ॥१८-४८॥

असक्तबुद्धिः सर्वत्र जितात्मा विगतस्पृहः ।
नैष्कर्म्यसिद्धिं परमां संन्यासेनाधिगच्छति ॥
राग नहीं संयम सही, रहे न इच्छा नाम ।
परम सिद्धि उसको मिले, सन्यासी सा काम ॥१८-४९॥

सिद्धिं प्राप्तो यथा ब्रह्म तथाप्नोति निबोध मे ।
समासेनैव कौन्तेय निष्ठा ज्ञानस्य या परा ॥
सिद्धि मिले तो ब्रह्म मिले, मुझसे तू यह जान ।
सार मैं तुझसे कहूँ, परम यही है ज्ञान ॥१८-५०॥

बुद्ध्या विशुद्ध्या युक्तो धृत्यात्मानं नियम्य च ।
शब्दादीन्विषयांस्त्यक्त्वा रागद्वेषौ व्युदस्य च ॥
शुद्ध बुद्धि व धैर्य से, ख़ुद पर संयम होय ।
शब्द, विषय का त्याग करे, रागद्वेष को खोय ॥१८-५१॥

विविक्तसेवी लघ्वाशी यतवाक्कायमानसः ।
ध्यानयोगपरो नित्यं वैराग्यं समुपाश्रितः ॥
भोज अल्प एकांत हो, वश मन वचन व काय ।
ध्यान योग पर नित्य रहे, वैरागी मन पाय ॥१८-५२॥

अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं परिग्रहम् ।
विमुच्य निर्ममः शान्तो ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥
काम क्रोध बल दर्प नहीं, वस्तु अहं का त्याग ।
शांत रहे, मैं कुछ नहीं, मिले ब्रह्म का भाग ॥१८-५३॥

ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति ।
समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम् ॥
ब्रह्म मिले आनंद मिले, ना इच्छा ना शोक ।
भाव सभी पर सम रहे, मिले परम मम् लोक ॥१८-५४॥

भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः ।
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम् ॥
हो भक्ति तो जान मुझे, मेरा सत्य स्वरूप ।
सत्य मेरा जो जान ले, आन मिले मम् रूप ॥१८-५५॥

सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्व्यपाश्रयः ।
मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम् ॥
काम सभी करते रहे, रख कर मेरा ध्यान ।
मम प्रसाद मिलता रहे, धाम मिले मम् जान ॥१८-५६॥

चेतसा सर्वकर्माणि मयि संन्यस्य मत्परः ।
बुद्धियोगमुपाश्रित्य मच्चित्तः सततं भव ॥
चेतन मन से कर्म करो, रख कर मेरा ध्यान ।
योगबुद्धि मुझमें रखो, सदा करो मम् ध्यान ॥१८-५७॥

मच्चित्तः सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात्तरिष्यसि ।
अथ चेत्त्वमहंकारान्न श्रोष्यसि विनङ्क्ष्यसि ॥
मिट जाये बाधा सभी, जब मुझमें हो ध्यान ।
अहंकार में रहे अगर, नष्ट सभी हो ज्ञान ॥१८-५८॥

यदहंकारमाश्रित्य न योत्स्य इति मन्यसे ।
मिथ्यैष व्यवसायस्ते प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति ॥
माने झूठे अहं को, जो डाले हथियार ।
मिथ्या हो संकल्प सभी, ना कुदरत के यार ॥१८-५९॥

स्वभावजेन कौन्तेय निबद्धः स्वेन कर्मणा ।
कर्तुं नेच्छसि यन्मोहात्करिष्यस्यवशोऽपि तत् ॥
अर्जुन बँधे स्वभाव से, लड़ना तेरा काम ।
किया मोहवश जो नही, फिर भी ना आराम ॥१८-६०॥

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति ।
भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया ॥
ईश्वर है सब जीव में, अर्जुन मन में वास ।
हर जीवन में है वही, यन्त्र चलित हर श्वास ॥१८-६१॥

तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत ।
तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम् ॥
जाता जो उसकी शरण, भारत भाव समान ।
प्रभु शांति देते परम, परम बनाये स्थान ॥१८-६२॥

इति ते ज्ञानमाख्यातं गुह्याद्गुह्यतरं मया ।
विमृश्यैतदशेषेण यथेच्छसि तथा कुरु ॥
बता दिया मैंने तुझे, परम गूढ़ यह ज्ञान ।
पूर्ण रूप चिंतन करो, फिर लो तुम संज्ञान ॥१८-६३॥

सर्वगुह्यतमं भूयः शृणु मे परमं वचः ।
इष्टोऽसि मे दृढमिति ततो वक्ष्यामि ते हितम् ॥
गूढ़ बात तुम पुनः सुनो, परम वचन यह मान ।
तुम मेरे प्रियतम सखा, अपना हित पहचान ॥१८-६४॥

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु ।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे ॥
कर चिंतन मम् भक्त बनो, नमन करो हर बार ।
आना मेरे पास है, वचन करो स्वीकार ॥१८-६५॥

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज ।
अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥
सब धर्मो को त्याग के, शरण रहो मम् पास ।
मै पापों से मुक्त करूँ, मुझ पर हो विश्वास ॥१८-६६॥

इदं ते नातपस्काय नाभक्ताय कदाचन ।
न चाशुश्रूषवे वाच्यं न च मां योऽभ्यसूयति ॥
गूढ़ ज्ञान उसको कभी, जाकर नहीं बताय ।
एकनिष्ठ ना संयमी, ना भक्ति पथ जाय ॥१८-६७॥

य इमं परमं गुह्यं मद्भक्तेष्वभिधास्यति ।
भक्तिं मयि परां कृत्वा मामेवैष्यत्यसंशयः ॥
भक्तों को अवगत करे, परम गूढ़ यह बात ।
मुझ में आ कर वह मिले, परम भक्त की जात ॥१८-६८॥

न च तस्मान्मनुष्येषु कश्चिन्मे प्रियकृत्तमः ।
भविता न च मे तस्मादन्यः प्रियतरो भुवि ॥
उससे ज्यादा हो नहीं, प्रियतम मेरा दास ।
न होगा जो नहीं हुआ, उससे ज्यादा ख़ास ॥१८-६९॥

अध्येष्यते च य इमं धर्म्यं संवादमावयोः ।
ज्ञानयज्ञेन तेनाहमिष्टः स्यामिति मे मतिः ॥
पाठ रहे संवाद के, बड़े धर्म की बात ।
ज्ञान यज्ञ भक्ति मेरी, मानो मेरी बात ॥१८-७०॥

श्रद्धावाननसूयश्च शृणुयादपि यो नरः ।
सोऽपि मुक्तः शुभाँल्लोकान्प्राप्नुयात्पुण्यकर्मणाम् ॥
भक्ति सुनें जो द्वेषरहित, वे जन ऐसा जान ।
मुक्त मिले शुभ लोक में, पुनीत आत्म जन मान ॥१८-७१॥

कच्चिदेतच्छ्रुतं पार्थ त्वयैकाग्रेण चेतसा ।
कच्चिदज्ञानसंमोहः प्रनष्टस्ते धनंजय ॥
पार्थ क्या तुमने सुना, चेतन मन व ध्यान ।
दूर हुआ अर्जुन कहो, मोह और अज्ञान ॥१८-७२॥

अर्जुन उवाच

नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत ।
स्थितोऽस्मि गतसन्देहः करिष्ये वचनं तव ॥
मोह दूर, बुद्धि मिली, आप कृपा भगवान ।
दृढ़ हूँ मैं संशय नहीं, आज्ञा तेरी मान ॥१८-७३॥

संजय उवाच

इत्यहं वासुदेवस्य पार्थस्य च महात्मनः ।
संवादमिममश्रौषमद्भुतं रोमहर्षणम् ॥
वासुदेव हे अर्जुन भी, आत्मा मान महान ।
सुनकर अद्भुत बात यह, रोमांचित मन जान ॥१८-७४॥

व्यासप्रसादाच्छ्रुतवानेतद्गुह्यमहं परम् ।
योगं योगेश्वरात्कृष्णात्साक्षात्कथयतः स्वयम् ॥

व्यासजी की कृपा हुई, सुना गूढ़ यह ज्ञान ।
योगेश्वर श्रीकृष्ण से, सीधा उतरा ज्ञान ॥१८-७५॥

राजन्संस्मृत्य संस्मृत्य संवादमिममद्भुतम् ।
केशवार्जुनयोः पुण्यं हृष्यामि च मुहुर्मुहुः ॥

करता राजन याद जब, वह अद्भुत संवाद ।
गदगद होता हर्ष से, केशव अर्जुन वाद ॥१८-७६॥

तच्च संस्मृत्य संस्मृत्य रूपमत्यद्भुतं हरेः ।
विस्मयो मे महान् राजन्हृष्यामि च पुनः पुनः ॥

याद रूप अद्भुत करूँ, हरि का वह आकार ।
विस्मित् मैं राजन हुआ, पुलकित बारंबार ॥१८-७७॥

यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः ।
तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम ॥

योगेश्वर श्रीकृष्ण जहाँ, वहीं धनुर्धर दास ।
शक्ति विजय ऐश्वर्य वहाँ, यह मेरा विश्वास ॥१८-७८॥

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे
श्रीकृष्णार्जुनसंवादे मोक्षसंन्यासयोगो नामाष्टादशोऽध्यायः ॥

॥ ॐ ॐ ॐ ॥

॥ ॐ ॐ ॐ ॥